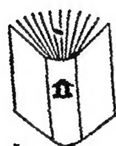
प्रगतिशील भारतीय
साहित्यकारों के छविचित्र



किताब घर
गांधी नगर, दिल्ली-110031

प्रगतिशील भारतीय साहित्यकारों के छविचित्र

प्रो० ये० प० चेलीशेव
डी० लिट्

संपादक / अनुवादक — **डॉ० बी० आर० शर्मा**
एम० ए० पी-एच० डी०

मूल्य : पैंतालीस रुपये / प्रथम संस्करण : 1985 / आवरण : सुमन
प्रकाशक : किताबघर, मेन रोड, गांधी नगर, दिल्ली-110031
मुद्रक : चोपड़ा प्रिंटर्स, 1/10411 मोहन पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

PRAGATISHEEL BHARATIYA SAHITYAKARON KE CHHAVICHITRA (Portraits of the Progressive Indian Litterateurs) by E. P. CHELISHEV (Hindi) Price Rs. 45.00

भूमिका

इस पुस्तक में संकलित भारतिय साहित्यकारों के छविचित्र, अनेक कोणों से विशिष्ट वन पाये हैं, एक सोवियत विद्वान और साहित्यविज्ञ किस रुप में हमारे साहित्य को देखते और परखते हैं, तथा इन चुने हुए लेखकों की देन के महत्त्व को कैसे आंकते हैं, यह भारतीय पाठकों के लिये निश्चय ही वड़ा रुचिकर है, इससे श्री चेलीशेव की अपनी दृष्टि का पता चलता हैं और हमें अपने जाने माने लेखकों को उनकी दृष्टि से देखने का सुखद अनुभव प्राप्त होता है।

इन निवंधों के पीछे गहरा अध्ययन और साथ ही साथ भारतीय साहित्य के साथ गहरा लगाव पाया जाता है। चुने गये लेखकों में से कुछेक के साथ श्री चेलीशेव के निजी साक्षात् और संवाद पुस्तक को और अधिक,रोचक और प्रामाणिक वनाते हैं।

यह वड़े हर्ष की वात है कि सोवियत संघ में भारतीय साहित्य तथा चिंतन के प्रति गहरी दिलचस्पी पायी जाती है। हमारे दोनों देशों के वीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दृष्टि से भी यह पुस्तक एक सुन्दर कड़ी है।

—भीष्म साहनी

नई दिल्ली

24.2.85

सम्पादकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'प्रगतिशील भारतीय साहित्यकारों के छविचित्र' भारतीय साहित्य में अपने आप में एक सर्वथा नूतन विधा लेकर उपस्थित हुई है। इसमें मनीषी लेखक प्रो० ये० प० चेलीशेव ने प्ररूपात्मक अध्ययन से साहित्यकारों के छविचित्र प्रस्तुत किए हैं। किसी साहित्यकार के बारे में लिखना अथवा उसकी किसी अन्य साहित्यकार से तुलना करके लिखना कोई नयी बात नहीं है, किंतु प्ररूपात्मक अध्ययन पद्धति से साहित्यकारों के छविचित्र अंकित करना भारतीय साहित्य में एक नयी बात अवश्य है। इसमें सर्वाधिक महत्त्व की वात यह है कि लेखक को जिस साहित्यकार के बारे में लिखना है, उससे उसकी घनिष्ठता एवं आत्मीयता का होना परमावश्यक है। साथ ही छविचित्रों का सम्यक् चित्रांकन करने के लिए लेखक का पर्यावेक्षी तथा सूक्ष्मान्वेषी होना भी वहुत जरूरी है। इन निबंधों का अध्ययन-मनन करने से यह भली भांति ज्ञात होगा कि लेखक की अपनी एक विशिष्ट शैली है। इन्हें पढ़ते समय यदा-कदा ऐसा लगता है कि हम निवंध अथवा लेख न पढ़कर किसी कहानी अथवा उपन्यास का कोई अंश पढ़ रहे हैं। वस्तुतः ऐसा लेखन वही कर सकता है; जिसका लेखकीय विषय अथवा कथ्य से पूर्णतः आत्मसाक्ष्य हो गया हो। उत्तम छविचित्रों के सृजन के लिए यह एक अनिवार्य कसौटी है और प्रोफेसर चेलीशेव इस कला में सर्वथा पारंगत लगते हैं। इन निवंधों के पढ़ने से यह वात स्पष्ट हो जाएगी कि लेखक वड़ी सूक्ष्म दृष्टि रखता है और उसी साहित्यकार के वारे में लिखता है जिससे उसका तादात्म्य स्थापित हो चुका होता है। उसने ऐसे साहित्यकारों का ही चयन किया है जिनसे उसका प्रत्यक्ष संवंध हो चुका था और आत्मीयता स्थापित हो चुकी थी।

अन्य ध्यातव्य वात यह है कि लेखक ने ऐसे साहित्यकारों का चयन किया है जिन्होंने अधिकांशतः जनसाहित्य का सृजन किया है। प्रायः हर युग में जन-साहित्य ही लोगों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। आधुनिक युग में तो ऐसे साहित्य को ही श्रेष्ठ समझा जाता है। कारण यह है कि ऐसे साहित्य में जीवना-नुभूतियों की अधिकता होती है और भारतीय साहित्य की अखंड परंपरा कभी

जीवन से विमुख नहीं रही, उसने जीवन को सदा चुनौती दी है और ललकारा है। क्लासिकल साहित्य में इसके उदाहरण कबीर तथा अमीर खुसरो हैं, तो आधुनिक काल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, इकबाल, अली सरदार जाफ़री, प्रेमचन्द और सुमित्रानंदन पंत आदि हैं।

कतिपय आलोचक प्रगतिशील साहित्य और सांस्कृतिक धरोहर विषयक साहित्य में विरोध मानते हैं लेकिन आलोच्य विद्वान लेखक प्रगतिशील होते हुए भी साहित्यकारों से सांस्कृतिक पक्ष को उभारने में तनिक भी हिचकता नहीं। लेखक की धारणा है कि इन साहित्यकारों ने जीवन को उसकी व्यापकता एवं समग्रता में देखा-परखा है और उसके प्रगतिशील तत्त्वों को अपनी रचनाओं में अनुस्यूत किया है। इन प्रगतिशील लेखकों ने कला को कला के लिए नहीं, अपितु संसार को परिवर्तित करने के लिए सृजन किया है। वस्तुतः रोमांसवादी लेखक अपनी कला को भावना और कल्पना से सजाते हैं, किंतु जीवन के आधारभूत तत्त्वों को कभी अस्वीकार नहीं करते। यथार्थवादी लेखक जीवन को उसकी समग्र व्यापकता और संश्लिष्ट वास्तविकता में अंगीकार करता है। वास्तव में मूल रूप से जीवन के विराट सत्य को अंगीकार करके ही लेखक महान कला की सृष्टि कर सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रो० चेलीशेव ने ऐसे ही साहित्यकारों को चुना है।

अधुना भारतीय संस्कृति की विश्व संपर्क में अहम् भूमिका होती जा रही है। संस्कृति प्रेमी विद्वान भारतीय साहित्य के अनुसंधान-विश्लेषण में सन्नद्ध हैं। यही कारण है कि मार्क्सवाद में विश्वास होने के बावजूद रूसी लोगों की भी धर्म और संस्कृति में आस्था दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। भारत की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत के प्रति सोवियत विद्वानों में विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो रही है। फलतः गांधी, टैगोर, रामकृष्ण तथा विवेकानंद के दर्शन के प्रति उनका झुकाव बढ़ रहा है।

प्रस्तुत रूसी लेखक का कबीर, सूरदास, रवीन्द्रनाथ पर भी अपनी लेखनी चलाना और उनमें प्रगतिशील तत्त्वों को स्वीकारना संभवतः कुछ प्रतिबद्ध लोगों को चकित कर सकता है किंतु निष्पक्षमती वाले विद्वान इस स्वस्थ प्रवृत्ति का हृदय से स्वागत करेंगे, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन केंद्र, दिल्ली का मुख्य ध्येय भी सांस्कृतिक समन्वय पर बल देना है। केंद्र ने इसी समानता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक का संपादन एवं प्रकाशन अपने हाथ में लिया। पुस्तक को सुंदर बनाने में श्री एस० पी० कहोल ने जो सहायता की, उसके लिए हम अत्यंत आभारी हैं। अगर इस प्रयास का स्वागत हुआ, तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

किताब घर, दिल्ली के प्रबंधकों के भी हम आभारी हैं जिन्होंने इतने अल्प समय में इस पुस्तक का इतना सुंदर प्रकाशन कर इसे पाठकों को सुलभ करा दिया। सुधी पाठकों से पुस्तक के बारे में रचनात्मक सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

गणतंत्र दिवस, 1985 —बी० आर० शर्मा

13/236, गीता कालोनी,
दिल्ली-110031

प्रस्तावना

मैं शुरू में ही यह कह देना चाहता हूं कि मैंने यह पुस्तक भारतीय साहित्य के इतिहास के रूप में नहीं लिखी है जिसमें साहित्यिक कृतियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का संकलन किया गया हो, यह तो भारत के विभिन्न प्रदेश के लोगों के साहित्यों के विकास का एक अध्ययन और मूल्यांकन करने का प्रयत्न मात्र है जिसमें इतिहास के विभिन्न कालों में लोगों की पारस्परिक क्रिया दिखायी गयी है। मैंने 1981 में खुदोज़ेस्तवेन्नाया लितरेतुस, मास्को, से प्रकाशित अपनी पुस्तक **कौंटेम्पोरेरी इंडियन लिटरेचर** (समसामयिक भारतीय साहित्य) में यही करने का प्रयास किया था। उसमें मैंने 19वीं और 20वीं शताब्दियों में एक वहुभाषीय प्रयास के रूप में भारतीय साहित्य के विकास को समझने-समझाने की कोशिश की थी।

मेरी राय में, किसी भी राष्ट्र का साहित्य अनेक लेखकों की कृतियों से वना होता है। हर लेखक अपने-अपने तरीके से उस युग के, जिसमें वे जीते और काम करते हैं, समान रूप में प्रस्तुत बुनियादी ऐतिहासिक प्रश्नों का उत्तर देता है। इसलिए, साहित्यिक प्रक्रम को पूरी तरह समझ सकने के लिए इसके बुनियादी स्वरूप को प्रकट करने और समझने के लिए और यह निर्णय करने के लिए कि कौन-कौनसी शैलियां और धाराएं किसी काल विशेष में पैदा हुईं, हमें सबसे पहले प्रमुख लेखकों की कृतियों पर ध्यान देना चाहिए जिनसे साहित्य के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उसकी विशेषताओं का निश्चय होता है।

इन्हीं वातों का ध्यान रखकर हमने भारतीय तथा अन्य पाठकों के लिए इस पुस्तक का संकलन किया है। इसमें प्रमुख भारतीय उपन्यास-शिल्पियों पर लेख और निवंध हैं जो एक ही भावना से वंधे हुए हैं और इनमें भारतीय साहित्य की एक मोटी रूपरेखा, इसका ऐतिहासिक विकास, विधा और शैली की विविधता और सबसे वड़ी चीज, एक राष्ट्रीय परिदृश्य प्रस्तुत हुआ है।

पुस्तक के विभिन्न लेख पहले अलग-अलग लहज़े में लिखे गए थे। पुराने लेखकों के छविचित्रों में उनकी रचनाओं का विश्लेषण, मूल्यांकन और भारतीय

तथा विश्व साहित्य में उनकी देन पेश करने की कोशिश की गयी है, समकालीन लेखकों के चित्र मुख्यत: उनके जीवन से बनाए गए हैं।

यद्यपि ये सब अब मर चुके हैं पर ये लेखक सदा मेरे साथ रहेंगे। उनकी कृतियां पढ़ते समय उनके चेहरे मेरे सामने उभर आते हैं, उनके साथ अपनी भेंट और बातचीत स्मरण हो आती है और मुझे वे अपने पास बैठे अनुभव होने लगते हैं। सच्चे कुशल शिल्पी लेखक से कभी भी हमारा वियोग नहीं होता। वह अपनी कृतियों में जीवित रहता है, यथार्थता को समझने में हमारी सहायता करता है, विश्व और मानवात्मा के सौंदर्य के उद्घाटन में, अपने मित्रों से और अधिक गहरा प्यार करने में तथा अपने शत्रुओं के प्रति और अधिक कठोर होने में वह हमें मदद देता है। यही साहित्य के रुक-रुक कर होते विकास, निरंतरता और सार्थकता की कुंजी है।

मेरे विचार में, इस पुस्तक में शामिल उन्नीस निबंध उन श्रेष्ठ लेखकों की छविचित्रों की श्रृंखला हैं जिनकी रचनाएं विश्व साहित्य तथा भारतीय साहित्य, दोनों में आती हैं। उनकी कृतियां न केवल उनके देशवासियों को प्रेरित और प्रभावित करती हैं बल्कि भारत की सीमाओं से बहुत दूर बसे लोगों को भी प्रेरणा देती हैं।

यहां यह कह देना भी ठीक होगा कि इन संक्षिप्त निबंधों में मैंने भारतीय लेखकों की रचनाओं की संपूर्ण विशेषताएं प्रस्तुत करने का यत्न या भारतीय और विश्व साहित्य को उनकी देन का सांगोपांग मूल्यांकन नहीं किया है।

सबसे बढ़ कर तो मैंने उनकी रचनाओं की उन विशेषताओं पर ध्यान केंद्रित किया है जिनकी, मेरे विचार से, साहित्य की प्रगति में मुख्य भूमिका रही है, और जो इतिहास के विशिष्ट कालों में साहित्य के विकास में प्रधान प्रवृत्तियां थीं। उदाहरण के लिए, अमीर खुसरो देहलवी शीर्षक निबंध में मैंने यह कोशिश की है कि मध्य युग में हिंदी और उर्दू साहित्यों के विकास में भारतीय सांस्कृतिक संश्लेषण के विचारों का महत्त्व स्पष्ट किया जाए। कबीर और सूरदास विषयक लेखों में मैंने उनकी उन रचनाओं पर ध्यान दिया है जिनकी, प्ररूपात्मक दृष्टि से नवजागरण काल से तुलना की जा सकती है। 19वीं सदी में उर्दू साहित्य के विकास और पुनरुज्जीवन को मिर्जा ग़ालिब की देन पर विचार करते हुए मैंने उस काल के भारतीय साहित्य का प्रबोधकारी रूप दिखाने की कोशिश की है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मुहम्मद इकबाल, प्रेमचंद, सुब्रह्मण्य भारती और वल्लतोल विषयक निबंधों में भारतीय जनों के भीतर उभरती राष्ट्रीय आत्म-चेतना, राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के विकास और भारतीय साहित्य को विश्व साहित्य प्रक्रम में शामिल करने से संबंधित विशेषताओं पर बल दिया है। सरोजिनी नायडू वाले निबंध में मैंने यह दिखाने का यत्न किया है कि भारतीय साहित्य में

कैसे-कैसे सुंदर गीत, औपनिवेशिक ताकतों और साम्राज्यवाद के खिलाफ़ तथा शांति और राष्ट्रों के बीच मैत्री के लिए दृढ़ संघर्ष मौजूद हैं। उन लेखकों के बारे में लिखे गए निबंधों में जिन्होंने उपनिवेशकाल और राष्ट्रीय स्वाधीनता के बीच के समय में लिखा, मैंने समसामयिक भारतीय साहित्य के विकास में दीखने वाली बुनियादी प्रवृत्तियां दिखाने का यत्न किया है: जैसे परंपरा और नवीनीकरण की जटिल पारस्परिक क्रिया, कला की दृष्टि से दिलचस्प यथार्थ के नये मार्गों की खोज, यथार्थवाद का विकास और स्वच्छंदतावाद तथा अन्य सृजनात्मक विधियों और दिशाओं से इसकी परस्पर-क्रिया, साहित्य और जीवन में नये आदर्शों की खोज, आदि।

इस पुस्तक में संकलित साहित्यिक छविचित्रों का प्रधान अंश मेरे उन व्याख्यानों पर आधारित हैं जो मैंने भारत सोवियत संघ और अन्य कई देशों में भारतीय लेखकों के सम्मान में आयोजित सम्मेलनों, संगोष्ठियों और विचार-परिषदों में दिए थे। कई लेख विभिन्न समयों पर भारत और सोवियत संघ, दोनों की पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

इस प्रकार भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ लेखकों के साहित्यिक छविचित्रों के इस संग्रह से भारतीय साहित्य के ऐतिहासिक विकास की एक मोटी रूपरेखा सामने आ जाती है और पाठक साहित्य की प्रगति के बारे में हमारे विचारों से परिचित हो जाता है।

अंत में इस महत्त्वपूर्ण बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमने भारतीय साहित्य की यह जांच-परख अपने दोनों देशों के जनगणों की परंपरागत मैत्री, बढ़ते हुए सोवियत-भारत सांस्कृतिक आदान-प्रदान और भारत में सोवियत जनता की असीम दिलचस्पी के दृष्टिकोण से की है। नीचे दिए गए आंकड़ों से इस दिलचस्पी का कुछ संकेत मिलता है। सोवियत शासन की स्थापना से आज तक भारतीय लेखकों की 875 पुस्तकों का सोवियत संघ की 34 भाषाओं में अनुवाद हुआ और उनकी कुल प्रकाशन संख्या लगभग 370 लाख प्रतियां हैं।

इस कारण इस पुस्तक पर कार्य करते हुए मैं निरंतर यह सोचता रहा कि भारतीय साहित्य के प्रति सोवियत जनता के आकर्षण का कारण क्या है? भारतीय लेखकों की रचनाओं की इतनी मांग क्यों हैं? प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद मेरे प्रिय मित्र डा० वी० आर० शर्मा ने बड़ी लगन और मेहनत के साथ किया। मेरी दृष्टि से वे अच्छे अनुसंधानकर्त्ता ही नहीं, बल्कि एक अच्छे अनुवादक भी हैं। मैं इस सुंदर अनुवाद और संपादन के लिए उनका बहुत आभारी हूं। यदि यह पुस्तक भारतीय पाठकों के लिए दिलचस्प और जानकारी देने वाली सिद्ध हुई और उन्हें यह समझने में मदद दे सकी कि उनके अद्भुत साहित्य के बारे में हम क्या सोचते हैं और प्रमुख भारतीय लेखकों की रचनाओं का हम क्या मूल्यांकन करते हैं तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूंगा।

पूर्वपीठिका

सांस्कृतिक विरासत और भारतीय साहित्य

भारत में सारी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया की एक बड़ी और खास विशेषता निरंतरता या सातत्य है। हर नये युग के उत्पादन का और सामाजिक संबंधों तथा जनता की कला-चेतना का कोई सुनिश्चित स्तर होता है जो नये आदर्शों और जरूरतों को आगे बढ़ाता है और ऐसे नये कार्य उठाता है जिनमें अतीत के नये अर्थ लगाने और नवीकरण की परंपराओं के आलोचनात्मक पुनः आकलन और सृजनात्मक विकास की आवश्यकता होती है।

भारत के इतिहास के मोड़ों पर परंपराओं और नवीकरण की समस्या खास तौर से तीव्र और शीघ्र सुलझाने योग्य बन गयी; इन मोड़ों पर प्रगतिशील और पीछे की ओर जाने वाली, फलप्रद और निष्फल प्रवृत्तियां सांस्कृतिक विरासत की जटिल पारस्परिक क्रिया में प्रविष्ट हो गयीं। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में जनप्रिय-लोकतन्त्रीय और धार्मिक-सुधारक प्रवृत्तियों के साथ अभिजातवर्गीय धार्मिक-सैद्धांतिक प्रवृत्तियों के टकराव ने विभिन्न धार्मिक-सुधारक धर्म-खंडक आंदोलनों (तंत्रवाद, भक्ति और सूफ़ी मत) को जन्म दिया। 19वीं सदी में उस समय सांस्कृतिक विरासत का पुनर्मूल्यांकन किया गया और नयी धारणाओं को जन्म दिया गया जब भारत में राष्ट्रीय चेतना जागी और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन आरंभ हुए। सामन्तवाद के आधारों को झिझोड़ते हुए धार्मिक और सार्वजनिक सुधारकों, लेखकों और वैज्ञानिकों, शिक्षाविशारदों तथा कलाकारों ने अपनी विरासत में समर्थन पाने की कोशिश की और इसका अर्थ इस तरह लगाया कि इसे अपने समय के लिए प्रगतिशील आदर्शों और जीवन-लक्ष्यों की सेवा में नियुक्त किया जा सके।

यह समस्या औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त आधुनिक भारत में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सदियों में जो आत्मिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक और भौतिक मूल्य इकट्ठे हो गये हैं—ये भारत की जातियों की सांस्कृतिक विरासत हैं, निरंतर अपने अस्तित्व का बोध कराते रहते हैं और इस समय भी हर जगह आ रहे

होते हैं, तथा देश के सामाजिक-राजनीतिक, आत्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर सक्रिय प्रभाव डालते हैं। इसलिए सांस्कृतिक विरासत की समस्या जो भारत के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की कठिन समस्या से जुड़ी हुई है, न केवल बड़ी सैद्धांतिक दिलचस्पी की चीज़ है, बल्कि आज भारतीय जनता के बड़े-से-बड़े दायरों को गहराई से आलोकित भी करती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वाधीनता के बाद के दिनों में भारत की सामाजिक और राजनीतिक हस्तियां, वैज्ञानिक, लेखक और कलाकर सांस्कृतिक विरासत का मूल्यांकन, इसकी मात्रा और उपादान की परिभाषा, और प्रगतिशील, लोकतंत्रीय और मानवतावादी परंपराओं की तथा घिसी-पिटी, रूढ़िवादी और प्रतिगामी परंपराओं की कसौटियां स्पष्टत: भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के कामों में और राष्ट्रीय पुनरुत्थान के हित में कुछ विशिष्ट परंपराओं की अनुकूलता का प्रश्न तथा नयी-नयी प्राप्त स्वाधीनता की अवस्थाओं में सांस्कृतिक परंपराओं के परिवर्तन की वास्तविक दिशाओं का प्रभाव बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है।

जैसाकि ऐतिहासिक अनुभव से स्पष्ट होता है, आधुनिक भारत में, पूर्व के अन्य सब देशों की तरह निरंतरता की दो निर्णायक सरणियां दिखाई देती हैं—प्रगतिशील सरणि जो राष्ट्रीय हितों से मेल खाती है, और प्रतिक्रियावादी सरणि जो सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के विरोध में जाने वाली सरणि है। इस समय भारत के जटिल और अंतर्विरोधों वाले विकास में कभी-कभी निरंतरता की इन दो सरणियों का अनुपात निश्चित करना कठिन हो जाता है। सांस्कृतिक विरासत की प्रगतिशील प्रवृत्तियों को, जिनसे सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास में मदद मिले, अलग पहचान पाना हमेशा इतना सरल नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो, अक्सर सांस्कृतिक विरासत की उन्हीं विशेषताओं को अलग-अलग तरीकों से प्रकट और प्रयुक्त किया जाता है और, द्वितीयत:, परंपराओं के उन्हीं तत्त्वों को भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक दशाओं में अलग-अलग रीति से स्वीकार किया जा सकता है। यह बात सिद्ध करने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। भगवद्गीता की अनेक व्याख्याओं के बारे में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था कि मनों और कार्यों पर अधिकार रखने वाले आधुनिक पुरुषों—तिलक, अरविंद घोष और गांधी जी—ने भी उसे अपने लेखन का विषय बनाया है और प्रत्येक ने इसकी अपने ढंग से व्याख्या की है। गांधी जी ने इसे अहिंसा में अपनी अटल आस्था का आधार बनाया जबकि और लोग हिंसा को और उसकी सहायता से सत्य की रक्षा के लिए संघर्ष करने को उचित ठहराते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अध्ययन करने वाले अक्सर उनके विचारों पर उपनिषदों का प्रभाव बताया करते हैं जिन्होंने उनकी रचनाओं में जीवनाग्रही आशा-

वाद, जीवन के आनंदमय स्वरूप और उदात्त मानववाद के विकास में मदद दी। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, उनका मन उपनिषदों की उत्तम बातों से सराबोर था। साथ ही, उपनिषदों के दर्शन की इकतरफ़ा व्याख्या करना न केवल भारतीय दार्शनिकों और सांस्कृतिक विचारकों का, जो यथार्थ से दूर भागने का प्रयत्न कर रहे थे, बल्कि योरुपीय लोगों का भी मुख्य शौक रहा जिनमें प्रथम शोपनहावर थे जो संसार पर निराशावादी दृष्टि रखते थे और संसार के वैज्ञानिक ज्ञान के मुकाबले कलात्मक नैसर्गिक ज्ञान की उपेक्षा और विरोध के हामी थे।

प्राचीन भारत में काव्य-कला के विवेचन का स्तर बहुत ऊंचा हो गया था। इसने बहुत से लेखकों का मार्गदर्शन किया और बहुत-सी उच्च कलात्मक कृतियों के सृजन में मदद दी जो आज रूप की निर्दोषता, विचार की गहराई और उनमें प्रकट भावों के सौंदर्य से हमें चकित कर देती हैं। फिर भी, परंपरावादी मान्यताओं से आने वाले कुछ आधुनिक साहित्यिक लोग साहित्य में कोई भी नवीनता देखकर उसे अतीत का विस्मरण भी, प्राचीन काव्य शास्त्र के मूल नियमों का उल्लंघन या फिर अज्ञान मानने लगते हैं। इस प्रकार, ब्रजकिशोर चतुर्वेदी के विचार में, निराला, पंत, दिनकर, बच्चन तथा अन्य प्रसिद्ध कवियों से, जिनकी आधुनिक हिंदी कविता के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, कुछ भी आशा नहीं की जा सकती क्योंकि कविता को नया रूप देने का प्रयत्न करते हुए वे परंपरागत काव्य-सिद्धांतों से दूर हो गये। उनका कहना है कि सिर्फ संस्कृत और इसका साहित्य वह पोषक मिट्टी है जिसपर आधुनिक भाषा और कविता को फलना-फूलना चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय साहित्य के विकास में संस्कृत की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है और आज भी वह महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि कृष्ण कृपलानी ने ठीक ही लिखा है, संस्कृत वह संयोजक बल है, जोड़ने वाली कड़ी है जो भारतीय संस्कृति की निरंतरता और अखंडता कायम करने में मदद करती है, एक ऐसा चश्मा है जो अपनी प्रचुर जल राशि से अपनी सारी धाराओं को भरा रखता है। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत की शब्दावली, इसकी कविता, उसकी विशिष्ट छंद-पद्धति और बिंब विधान पद्धति तथा कलात्मक माध्यम भारत की साहित्यिक प्रक्रिया के विकास में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और राष्ट्रीय भारतीय भाषाओं के निर्माण और विकास को गति देते हैं। पर साथ ही, हमारे विचार में, आधुनिक भारतीय संस्कृति के विकास में संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के विकास का एकमात्र प्रेरक नहीं माना जा सकता। संस्कृत इसे पुष्ट करने वाली एक महत्त्वपूर्ण भाषा है पर एकमात्र नहीं।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि संस्कृत के साहित्य ने लोक-साहित्य

का और जनभाषाओं के साहित्य का बहुत-सा अंश आत्मसात् किया है और कि साहित्यिक दृष्टि से बहुत से मध्यकालीन कवि दो भाषाएं जानने वाले थे। उदाहरण के लिए, हेमचंद्र ने संस्कृत और प्राकृत दोनों में लिखा और अपनी साहित्यिक कृतियां मैथिली और संस्कृत में लिखीं।

सांस्कृतिक विरासत की विभिन्न व्याख्याएं और मूल्यांकन इस कारण भी संभव हैं कि इसकी संरचना जटिल और बहु-स्तरीय है। भारत में साहित्यिक प्रक्रिया का अन्वेषण करने वाले के लिए निरंतरता की प्रगतिशील सरणि की परिभाषा करना और सांस्कृतिक परंपराओं के परस्पर-विरोधी मूल्यांकन का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय साहित्य, भारतीय साहित्य के सारे बहुमंज़िले भवन की एक तरह की नींव है जिसपर अन्य समीपवर्ती देशों के साहित्य भी खड़े हैं जो इसके विचारों, विषयों और रूपों का अपने राष्ट्रीय आधारों पर विकास करते हैं। उदाहरण के लिए, कृष्ण कृपलानी ने बताया है कि वेद, उपनिषद्, रामायण-महाभारत, यहां तक कि कई बाद के पुराण भी आज भी एक ऐसा सक्रिय स्रोत हैं जिससे करोड़ों लोग जीवन और साहित्य में प्रेरणा लेते हैं। हमारे विचार से, यह जोड़ देना भी ठीक होगा कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म के स्मारकों का और महत्त्वपूर्ण मानववादी संदेश वाले चेन-तमिल स्मारकों का जातियों की सांस्कृतिक विरासत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरण के लिए, इस बात पर हम भारतीय समीक्षक एस० एस० अहलूवालिया से सहमत हुए बिना नहीं रह सकते कि 'भारतीय' शब्द 'हिंदू' शब्द का समानार्थक नहीं है। फिर भी, प्राचीन संस्कृति की हर चीज़ आज एक जीवंत और सृजनशील बल नहीं है। इस प्रकार भारतीय मार्क्सवादी साहित्य समीक्षक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने यह ठीक ही लिखा था कि परंपराएं बनाए रखने के नाम पर हर पुरानी चीज़ को पुनरुज्जीवित करना ठीक नहीं। आपने आगे लिखा है कि भारतीय परंपराएं बनाए रखने का अर्थ यह नहीं है कि हिंदी भाषा को भद्दी, कृत्रिम संस्कृत शब्दावली से भर दिया जाए या रहस्यवाद, निराशावाद और नियतिवाद को आंख मूंद कर मान लिया जाए। हमें भारतीय सांस्कृतिक विरासत के केवल प्रगतिशील लोकतंत्रीय तत्त्वों का संरक्षण करना चाहिए। भारतीय परंपराओं का अधिकतम विकास आधुनिक वैज्ञानिक विश्व दृष्टि अपना कर ही किया जा सकता है। हम इतना और जोड़ देना चाहते हैं, जैसाकि हमारे आदरणीय अध्यक्ष और मित्र प्रोफेसर वी० राघवन ने तूरिन में हुए द्वितीय विश्व सम्मेलन में कहा था, अभी ऐसी बहुत सामग्री है जिसे खोजना, दोहराना या नई रीति से पढ़ना है।

तो भारतीय सांस्कृतिक विरासत की किस चीज़ को 'प्रगतिशील, लोकतंत्रीय अंश माना जाए,' जीवंत, सृजनशील बल समझा जाए? यह प्रश्न उन बहुत से

भारतीय लेखकों के मन में है जो उसके अलग-अलग जवाब देते हैं। उदाहरण के लिए, जवाहरलाल नेहरू प्रचीन भारतीय महाकाव्य की निम्नलिखित बातों को प्रगतिशील मानते थे। महाभारत और रामायण जो प्राचीन काल में रचे गए थे, आज भी भारतीय जनता के मन में एक जीवंत बल है···यह प्रभाव सांस्कृतिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से हितकर है और मैं इन कथाओं और अन्योक्तियों में आए सुंदर और समृद्ध प्रतीकात्मक बिंबों को किसी भी तरह नष्ट या तिरस्कृत करना पसन्द नहीं करूंगा। अधिकतर मिथक और कथाएं वीरत्व के आधार पर कल्पित हैं और परिणामों की परवाह बिना किए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने और सत्यनिष्ठ रहने की शिक्षा देती हैं · प्रतिज्ञा पूर्ति में चाहे मृत्यु हो जाए, और उसके बाद साहस, सत्य और जनहित के लिए आत्म-बलिदान।

अतीत और वर्तमान काल की बहुत-सी प्रमुख भारतीय कला-कृतियां साहित्य को नवीन रूप देने और विकसित करने के तरीके खोजते हुए भारतीय सांस्कृतिक विरासत का पिटारा खोलती हैं। मध्यकालीन भारत में भारत के भक्त कवियों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए प्राचीन काल का समर्थन पाने का प्रयत्न करते हुए अत्याधिक लोकप्रिय भारतीय सांस्कृतिक परंपराएं अपनायीं। उदाहरण के लिए, सूरदास जैसे नवीनता-प्रेमी कवि उन पर वापस ही नहीं आ गये, उन्होंने उनका पुनर्मूल्यांकन भी किया—उन्होंने अत्याधिक कलात्मक रचनाएं कीं जिनका केंद्रबिंदु अपने आस-पास की दुनिया में संघर्ष करता बिल्कुल साधारण, सीधा-सादा मनुष्य था। यद्यपि सूरदास ने सच्चे भक्त कवि होने के कारण 'भागवत पुराण' को अपना आधार बनाया है, फिर भी उन्होंने सबसे पहले उन विषयों, घटनाओं और विचारों को लिया है जो कृष्ण के बचपन से, उनके देहात में बिताये जीवन से संबंधित हैं और उनमें आम आदमी की भावनाएँ और भाव प्रकट करने में अपनी सृजनशील कल्पना को अच्छा विस्तार दिया है। पुराण के वे अंश, जिनमें कृष्ण योद्धा और शासक के रूप में दिखाई देते हैं, सूरदास के लिए बहुत कम दिलचस्पी के विषय हैं और सूरसागर में उनका विशेष काव्यात्मक वर्णन नहीं किया गया है।

अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले आदर्श वीर योद्धाओं की खोज करते हुए नये जमाने के भारतीय कवि अक्सर भारतीय साहित्य की परंपरागत वीर मूर्तियों को अपना लेते हैं। राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष का मार्ग पकड़ने वाले नये युग के लोगों की भावनाओं को प्राचीन भारतीय साहित्य के वीरों के परंपरागत बिंबों के रूप में साकार किया जाता है जो इस प्रकार एक सार्वजनिक रूप ग्रहण कर लेते हैं और मातृभूमि की निष्ठापूर्ण सेवा और ऊंची नैतिकता के आदर्शों को पुष्ट करने के लक्ष्यों की सिद्धि करते हैं। इन बिंबों में एक नयी जीवंत सामग्री भर दी जाती है और उन्हें सामाजिक-राजनीतिक जीवन की

तात्कालिक समस्याओं से जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार बंगाली कवि और नाटककार मधुसूदन दत्त ने अपने काव्य 'मेघनाद-वध' (1860) में रावण की सेना के साथ राम की सेना की लड़ाई के रामायण वाले विषय में आधुनिक स्वर डाल दिये। मेघनाद के चरित्र में दत्त ने, नकारात्मक चित्रण की परंपरा तोड़ कर एक देशभक्त योद्धा का वर्णन किया जो अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए लड़ाई के क्षेत्र में अपने जीवन का बलिदान कर रहा है। इस काव्य का मुख्य विषय देश को दास बनाने वालों पर विजय पाने के लिए आरोपित स्वतंत्रता संघर्ष और वीरतापूर्ण मृत्यु की प्रशंसा है और इस काव्य में उस समय के प्रगतिशील तत्वों का समावेश किया गया है। हिंदी कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' (1914) में कृष्ण अपनी सब प्रिय वस्तुएं छोड़ जाता है और दूसरे देश चला जाता है जहां गरीब लोग उसे मुक्तिदाता और रक्षक के रूप में देखते हैं। राधा अपने एकाकीपन पर दृढ़ है और यह अनुभव करती है कि उसका प्रेमी, जो उसे छोड़ गया है, देशहित का काम कर रहा है। सतीत्व का व्रत लेकर वह अपना जीवन गरीबों की सेवा में अर्पित कर देती है। कृष्ण की प्रिया ग्वाल बाला राधा का बिंब छोड़ कर हरिऔध ऐसा बिंब प्रस्तुत करते हैं जो किसी ऐसी समकालीन भारतीय स्त्री का बिंब है जो राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में सक्रिय हिस्सा ले रही है। मैथिलीशरण का 'यशोधरा' (1933) में बुद्ध की पत्नी का, जिसे अपने पति के उच्च ध्येय का पता है, उदात्त चरित्र दिखाया गया है और वह अपने देशवासियों के लिए अपने पारिवारिक सुख और प्रेम का बलिदान कर देती है—वह एकाकी, असहाय स्त्री के परंपरागत रूप में नहीं दिखाई गयी है। उसी कवि के एक अन्य काव्य 'साकेत' (1931) में लक्ष्मण की सुंदर पत्नी उर्मिला अपने व्यक्तिगत सुख सुविधाएं छोड़ देती है और अयोध्या के नागरिकों को सत्य के लिए लड़ने, कानून सम्मत शासक राम को वनवास से वापस बुलाने के लिए प्रेरित करती है। इस काव्य में वर्णित संघर्ष का अंत विजय प्राप्ति में हुआ—इससे पाठकों में उन दिनों महात्मा गांधी के नेतृत्व में चल रहे सत्याग्रह आंदोलन के विचार आते हैं।

इस प्रकार प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं में लोकप्रचलित मिथक और किंवदंतियां यथार्थवादी विषय बन जाती हैं जिनके कल्पनात्मक अंश हट जाते हैं और जीवन की सच्ची स्थितियों का चित्रण हो जाता है। मिथकों और किंवदंतियों के पात्र उच्च वीरतापूर्ण गुणों वाले मनुष्यों का रूप ले लेते हैं जो उस समय के राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष की भावना के अनुरूप हैं।

स्वाधीन भारत में साहित्य के विकास में निरंतरता की प्रगतिशील सरणि स्पष्ट दिखाई देती है। देश के विभिन्न भागों में अनेक कवि परंपरागत बिंब-विधान और विषयों के आधार पर अत्याधिक कलात्मक और आधुनिक लगने

वाली कृतियां रचते हैं । महान शक्ति, सहनशीलता, साहस और उदात्तता—ये गुण प्राचीन भारतीय कथाओं के नायकों की विशेषता हैं जिन्हें कवि अपने उन समकालीनों में देखना चाहते हैं जिन्हें एक नये स्वाधीन भारत का निर्माण करना है। अपनी नैतिक-दार्शनिक कविता 'उर्वशी' (1961) में हिंदी कवि रामधारी सिंह दिनकर ने आधुनिक समाज में स्त्री की स्थिति, प्रेम और विवाह की समस्याएं उठायी हैं। कविता में उर्वशी और पुरूरवा के बिंब जीवंत सामग्री से भरपूर हैं और आज के मानव के भीतरी जगत का दर्शन कराते हैं। आशावाद और भविष्य में जनता के लिए बेहतर जीवन में; भारत की समृद्धि में आस्था ऐतिहासिक-पौराणिक काव्य 'नागार्जुन सागर' (1967) में भरे पड़े हैं जो आंध्र के कवि नारायण रेड्डी ने लिखा है । निर्भीक योद्धा परशुराम के बिंब के विभिन्न पहलू अनेक कवियों की रचनाओं में दिखाये गये हैं। मलयाली कवयित्री बालमणि अम्मा ने अपनी कविता 'एक परशुराम की कथा' केरल के बनने के बारे में प्रचलित किंवदंती को नया रूप दिया है जिसके अनुसार परशुराम के परशु फेंक देने पर समुद्रतल से केरल का जन्म हुआ । अपनी कविता 'परशुराम की प्रतीक्षा में' (1962) में, जो भारत पर चीन के आक्रमण के तुरंत बाद लिखी गयी थी, रामधारीसिंह दिनकर ने इस असीम शक्तिशाली योद्धा से अपील की है कि वे आकर उनके देशवासियों की सहायता करें और उनकी मातृभूमि की रक्षा करें, उसके शत्रु को पराजित करें इत्यादि ।

इस प्रकार, सांस्कृतिक परंपराओं पर निर्भर होने का अर्थ अतीत की अंधस्वीकृति नहीं, इसका पुनर्मूल्यांकन है, पुराने, घिसे-पिटे का त्याग और साथ ही सांस्कृतिक विरासत के उन लोकप्रिय लोकतंत्रीय तत्त्वों का विकास जिनसे जनता के मार्मिक हितों को लाभ होता है और जिनसे देश के प्रगतिशील सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास में मदद मिल सकती है ।

अन्वेषक का काम सांस्कृतिक विरासत के स्रोतों और अंतर्विरोधों तथा परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के सारतत्त्व को प्रकट करना, उनके उद्‌गम के कारणों की व्याख्या करना, और यह दिखाना है कि आज किस चीज़ का किस तरह सच्ची लोकतंत्रीय संस्कृति के विकास के लिए उपयोग किया जा सकता है और यह दिखाना है कि इस सांस्कृतिक विरासत का कौन-सा अंश रद्द कर दिया गया है और कौन-सा अंश विस्मृति के गर्भ में फेंक दिया गया है ।

— चेलीशेव

क्रम

अमीर खुसरो देहलवी : सांस्कृतिक समन्वय की अभिव्यक्ति

हिदुस्तान प्रायद्वीप और मध्य एशिया के लोगों के बीच के वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, और आर्थिक संबंधों की इतिहास-प्रसिद्ध जड़ें बड़े प्राचीन काल तक जाती हैं। यह सर्वविदित है कि ये संबंध प्राचीन काल में भी थे। बहुत-सी ऐसी भरोसे योग्य सामग्री मौजूद है जिससे सिद्ध होता है कि इन संबंधों ने मध्यकाल में हमारे लोगों की ऐतिहासिक नियतियों पर फलप्रद प्रभाव डाला था। भारत और मध्य एशिया के बीच वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संबंध, जिनमें साहित्यिक आदान-प्रदान भी शामिल थे, 11वीं सदी से विकास की एक नयी मंजिल पर आ गये। उसी समय भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तरी हिस्सों में मध्य एशिया की फ़ारसी का प्रवेश हुआ और इस भाषा के साहित्य में सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का संमिश्रण उभर कर ऊपर आ गया।

फ़ारसी साहित्य में एक प्रमुख स्थान अमीर खुसरो देहलवी का है। साहित्य, संगीत और विज्ञान के क्षेत्र में अमीर खुसरो का महत्त्व उनकी मातृभूमि की साहित्यिक और सांस्कृतिक सीमाएं लांघ कर बहुत दूर-दूर तक जाता है। इस महान कवि की प्रतिभासंपन्न सृजनात्मक कृतियों ने भारत में फ़ारसी साहित्य के सृजन और विकास में बड़ी सार्थक भूमिका निभायी : इसे उन सब पूर्वी देशों की मान्यता मिली जिनमें फ़ारसी का साहित्यिक भाषा और अंतर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान की भाषा के रूप में प्रयोग होता था। इसी कारण इस भारतीय कवि को बाद की शताब्दियों में मध्य एशिया, ट्रांसकाकेशिया, ईरान और अफ़गानिस्तान में दूर-दूर तक प्रसिद्धि मिली।

इस बात की पुष्टि प्रथम तो अमीर खुसरो की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं पर और विशेषतः उनके 'हम्से' से होती है। ताजिकिस्तान, ईरान, अफ़गानिस्तान, तुर्की, उजबेकिस्तान, अज़रबेजान और तुर्कमेनिस्तान के साहित्यों के दसियों साहित्यकारों को अमीर खुसरो की परंपरा के अनुयायियों में गिना जा सकता है। जामी और नवोई, शेइही और उर्फ़ी, अशरफ़ और अदलिफ़ तथा अन्य बहुत सारे

प्रसिद्ध साहित्यकार उनमें थे। यह बात उल्लेखनीय है कि अमीर खुसरो की एक रचना 'शीरीं और खुसरो' अपने प्रकाशन के लगभग पचास वर्ष बाद ही जार्जियन भाषा में अनुदित की जा चुकी थी। अमीर खुसरो की कृतियों की गूंज यूरोपीय साहित्य में भी सुनी जा सकती है। यह अरस्तू, गोज़ी और वाल्टेयर की काव्य-कृतियों में प्रतिबिंबित होती है। अमीर खुसरो की अमर काव्यकृतियां, जो बिंबों, कथ्य और कथानक विकास से संपन्न हैं विश्वख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। यदि यह बात सही है तो इसका रहस्य क्या है? क्या कारण है कि इन छह सौ वर्षों में अमीर खुसरो की काव्य सृष्टि का प्रभाव धुंधला नहीं पड़ा है?

इस स्थिति का एक कारण तो वह सार्वभौम मानवीयता है जो उनकी रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त है। उनके गीतों और महाकाव्यों में भी गहरे मानवतावादी विचार दिखाई देते हैं। अमीर खुसरो एक प्रगतिशील विचारक और अपने समय के प्रतिभासंपन्न सृजनशील कलाकार थे और वे मानव की आत्मिक गुलामी के खिलाफ लड़ने में कभी नहीं थके। उन्होंने सामान्य जनता के गुणों के पक्ष में बोलने का बीड़ा तो उठाया और इसमें पादशाह (राजा) या दरवेश की परवाह नहीं की, और मानव प्रतिष्ठा के लिए अपनी गहरी चिंता के सामने उन्होंने किसी धार्मिक नखरे को नहीं टिकने दिया।

मनुष्य के मूल्यांकन की उनकी एक-मात्र कसौटी यह थी कि वह किन आदर्शों पर आचरण करता है। अमीर खुसरो के मानवतावादी विचारों के कारण ही उनकी रचनाएँ बोधगम्य बनती हैं और इसी कारण वे उनकी मातृभूमि के लोगों तथा दूरस्थ विदेशों के लोगों के लिए इतनी आत्मीय बन जाती हैं। अमीर खुसरो में अपनी मातृभूमि के लिए बड़ा प्रेम था। उन्होंने इसकी प्राकृतिक सौंदर्य के गुण गाए, और जनसामान्य की महत्ता और उसकी उपलब्धियों का बखान किया। वे हृदय से बड़े देशभक्त थे। पर साथ ही उनकी देशभक्ति में अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के लिए भी स्थान था। वे अन्य देशों और उनकी संस्कृतियों तथा साहित्यों के बारे में सदा गहरे सम्मान और प्रशंसा से बोलते थे।

एक और भी विशेषता अमीर खुसरो की कृतियों को अमर बनाती है। वे राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सद्भाव और मित्रता पर सदा ज़ोर दिया करते थे। अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव के बारे में उनकी यह अत्यधिक चिंता उनके सारे साहित्यिक कार्य में दिखाई देती है। वे सब राष्ट्रों की बराबरी पर ज़ोर देते थे। सब प्रकार की धार्मिक मतांधता से मुक्त अमीर खुसरो ने सारे भारतीयों के बीच मित्रता और एकता के विचार को पुष्ट किया, चाहे किसी का कोई भी धर्म हो।

यह आदर्श उनकी ताजगी भरी श्रेष्ठ कविता 'दुवाल-रानी और हिद्रखा' में प्रधान है जिसका कथानक तत्कालीन भारत की स्थिति पर आधारित है।

अमीर खुसरो की रचनाओं में हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का एक

आदर्श उदाहरण मिलता है जिससे नये भारतीय वातावरण की नींव पड़ी।

इस्लामी और हिंदू संस्कृतियों के किन तत्त्वों का आपसी संपर्क हुआ था? अपने संपर्क के परिणामस्वरूप दोनों संस्कृतियों ने ठीक-ठीक कितने प्रतिशत दूसरी संस्कृति अपनाई? संस्कृति में नवीन समानता के तत्त्व किस तरह उभरते हैं?

इन प्रश्नों का कोई उत्तर देने का दावा न करते हुए हम सबसे पहले इस पारस्परिक क्रिया में हिस्सा लेने वाले दोनों संस्कृतियों के लोकतंत्रीय तत्त्वों पर ज़ोर देना चाहते हैं, प्रत्येक संस्कृति ने दूसरी संस्कृति से वे तत्त्व ग्रहण करने की कोशिश की जो इसमें नहीं थे पर जो जनता के हितों के लिए लाभदायक थे और उन्हें कलात्मक तथा वैचारिक दृष्टि से समृद्ध करते थे। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, हिंदू लोग इस्लाम में जाति प्रथा न होने के कारण इसकी ओर आकर्षित हुए और जटिल कर्मकांड, मूर्तिपूजा, छुआछूत के अभाव तथा एक ही ईश्वर की दृष्टि में सबकी समानता के प्रचार ने भी उन्हें आकृष्ट किया। इस प्रकार, इस सबसे धर्म में कट्टरता की कमी हुई और उसका लोकतंत्रीकरण हुआ और अंत में हिंदू धर्म में भक्ति का सिद्धांत विकसित हुआ जो समाज के निचले वर्गों और छोटी जातियों का वैचारिक ध्वज बन गया।

इस्लाम पर हिंदू धर्म का प्रभाव खास तौर से सूफ़ी आंदोलन के उदय और विकास में दिखाई दिया जिससे अंत में इस्लामी कट्टरता, क्रूरता और हटधर्मिता में कमी आयी।

संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, और तक्षण (मूर्ति) कला में लोकतंत्रीय तत्त्वों के घुलमिल जाने से इस्लाम और हिंदू धर्म के धार्मिक सिद्धांतों पर प्रभाव पड़ा और इसके परिणामस्वरूप तत्त्वतः नये कला रूपों का विकास हुआ।

खुसरो की सारी रचनाओं को इस पृष्ठभूमि में रखकर देखना चाहिए। उसने ही हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया जिसकी एक नयी भारतीय संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही और आज भी यह संस्कृति इससे पोषण और विकास प्राप्त करती है।

हमारे विचार में, अमीर खुसरो की रचनाओं की भव्यता और अमरता सबसे पहले तो इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि अपने समय के एक प्रमुख कलाकार के नाते उसने उस समय के महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील तत्त्वों को पहचाना—हिंदू धर्म और इस्लाम से संबंधित संस्कृतियों की भविष्य की प्रवृत्तियों को समझा। उसने उन्हें सृजनात्मक रीति से जोड़ा, एक संयुक्त जटिल वस्तु के रूप में उसे संगठित किया और ऐसे नये मूल्यों को जन्म दिया जो समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं और आज भी अपने तालमेल और निर्दोषिता से हमें प्रभावित करते हैं। यहां स्थानाभाव के कारण मैं केवल थोड़े से उदाहरणों से यह स्पष्ट करूंगा कि अमीर खुसरो ने मुस्लिम और हिंदू परंपराओं से व्यवहार करके तत्त्वतः नये कलारूपों की

सृष्टि की जो न हिंदू थे और न मुस्लिम। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अमीर खुसरो पहला कलाकार था जिसने कला को धार्मिक कट्टरता से तथा प्रतिक्रियावादी मुल्ला-पुरोहितों से मुक्त करके आम जनता के निकट पहुंचा दिया।

उस ज़माने में धार्मिक असहिष्णुता और मतांधता के विरोध में आवाज उठाने के लिए किसी कट्टरपंथी मुसलमान में बड़ी भारी नागरिक दृढ़ता की आवश्यकता थी। अमीर खुसरो ने जो यह मानववादी लहर चलायी वह सारे भारतीय साहित्य में खूब बढ़ी और आज भी चल रही है।

अमीर खुसरो की कृतियों ने परंपरागत कथानकों और कथ्यों को पुनरुज्जीवित किया; वे वास्तविक जीवन के प्रतिबिंब थे और आम आदमी का दिल छू जाते थे। लोकप्रिय हिंदी कवि रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है : "अमीर खुसरो ने हिंदी साहित्य में जो तरीका चुना वह रहस्यात्मक नहीं था; वह एक सच्चे राष्ट्रीय कवि का तरीका था जिसने जनता के प्रतिदिन के जीवन का वर्णन किया।"

अमीर खुसरो ने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जिसने उसे सच्चा राष्ट्रीय कवि बना दिया। उसने अपनी भाषा और अपने देशवासियों के प्रिय मूल्यों का प्रयोग बड़ी निपुणता से किया है। अमीर खुसरो के शब्दकोश 'खालिकबारी' में उसकी साहित्यिक कृतियों की भाषा की खोज करते हुए उसके समकालीनों की सच्ची आवाज़-सी सुनाई देती है। उसकी भाषा खड़ी बोली है जो बाद में साहित्यिक हिंदी और उर्दू का आधार बनी। इसी कारण हिंदी और उर्दू दोनों के लेखक अमीर खुसरो को अपनी-अपनी भाषा का लेखक मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि अमीर खुसरो दोनों भाषाओं के मूल स्रोत पर खड़ा था। बड़ी चतुराई से अमीर खुसरो ने नयी भारतीय बोलियों के आधार पर अरबी और फ़ारसी के काव्यशास्त्र और छंदशास्त्र का उपयोग कर लिया। इन प्रयोगों का उर्दू कविता में और अधिक विकास हुआ।

अमीर खुसरो की लाई हुई नवीनताएँ और भारतीय संस्कृति के विकास में उसका योगदान इस बात से स्पष्ट है कि वह क्लासिकल विरासत की दोनों धाराओं की उन्नति भी देख सका और साथ ही इन्हें सब तरह के रंगों से मुक्त करके एक नये मार्ग पर भी चला सका। आज भी यह धारा अपने स्वच्छ पारदर्शी प्रवाह के कारण पाठक का हृदय छू लेती है; यह आज भी भारत की उपजाऊ धरती को प्राणदायक नमी से भर रहा है। अमीर खुसरो द्वारा बोये गए नयी संस्कृति के बीजों से भरपूर फसल हुई है। अनेक विलक्षण भारतीय कवि, और संगीत विशारद उनके बनाए मार्ग पर चले हैं, कबीर, दादूदयाल, मुहम्मद जायसी, कुतुबखां, तानसेन तथा और अनेक लोग।

खुसरो की सृजनात्मक रचनाओं की शोहरत शीघ्र उनके देश की सीमाओं से बाहर पहुंच गयी, इससे बहुत से देशों में, जिनसे भारत का संपर्क हुआ, संस्कृति

के क्षेत्र में बहुत से कृतिकारों को प्रेरणा मिली और वे उसके बारे में आज भी प्रेम और कृतज्ञता से बात करते हैं ।

आज हमें यह कहते गर्व अनुभव होता है कि इस महान कवि को सोवियत जनता का प्रेम मिल रहा है जो अन्य राष्ट्रों की सांस्कृतिक विरासत का सम्मान करने के वातावरण में पली है ।

भारतीय उपमहाद्वीप के इस महान बुद्धिवादी कवि के 700वें जन्म दिवस समारोह पर हम बार-बार उसके मानवतावादी विचारों को स्मरण करते हैं जो बहुत से देशों के लोगों में आपसी सद्भाव और अच्छे पड़ोसी के संबंध बनाने पर बल देते है ।

कबीर की परंपरा–हिंदी साहित्य में पुनर्जागरण की प्रवृत्ति

आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व सर्वप्रथम सोवियत के विद्वान् अध्यापक ए० पी० बरान्निकोव ने, जिन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को जनप्रिय बनाया, मध्ययुग के महान भारतीय कवि कबीर का अध्ययन प्रारंभ किया था। ए० पी० बरान्निकोव ने कबीर के काव्य का पहला संक्षिप्त मूल्यांकन लल्लू जी लाल के 'प्रेम सागर' की भूमिका में किया था, जिसे सोवियत संघ से 1937 में प्रकाशित किया गया।

कबीर के ग्रंथों का विस्तृत और सांगोपांग अध्ययन तो यहां विशेष रूप से इस दशक में हुआ है, जब सोवियत संघ और भारत के बीच सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक सहयोग का बहुत अधिक विस्तार हुआ।

कबीर के ग्रंथों की मतवादी और अनुभूत्यात्मक मौलिकता सोवियत के शोध-कर्त्ताओं को उन उन्नतिवादी भारतीय विद्वानों का दृष्टिकोण समझने में सहायता करती है जिन्होंने कबीर के प्रति उस संकुचित दृष्टि का तिरस्कार किया है जिसमें उन्हें सत्य का त्याग करने वाला रहस्यवादी समझा जाता है। प्रसिद्ध भारतीय साहित्य समीक्षक हजारी प्रसाद द्विवेदी यह मानते हैं कि कबीर का काव्य "··· निरर्थक जाति-प्रथा को फटकार बताकर जन-हित से मेल कर सका" और यह बताते हैं कि···कबीर, सूरदास और तुलसीदास के ग्रंथ आज भी भारतीय जनता के हृदय को जीतकर अत्यधिक जनप्रिय बने हुए हैं। कबीर की आश्चर्यचकित कर देने वाली कविताएँ, यद्यपि आज से पाँच शताब्दी पहले लिखी गयी थीं। उनमें एक समसामयिक गूंज है। वे भारत की प्रगतिशील शक्तियों द्वारा साहित्य और कला में उच्चस्तरीय प्रवृत्तियों का पोषण करने के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

यही कारण है कि 'रामचरित मानस' जिसका रूसी अनुवाद अध्यापक ए० पी० बरान्निकोव ने किया था, और सूरदास के 'सूरसागर'—जिसका अनुवाद भारतीय भाषाविद् यू० तस्वेत्कोव अब कर रहे हैं—के साथ सोवियत पाठकों को

कबीर के काव्य की निधि, मुख्य रूप से, उनके सुंदर ग्रंथ 'बीजक' से अवगत कराने का निश्चय किया गया है।

मास्को के सोवियत प्रकाशन गृह, मास्को स्थित गल्प और कविता के राज्य प्रकाशन गृह ने 1965 में 'गीत काव्य कोष' सीरिज के अंतर्गत कबीर की कविताओं के अनुवाद का एक गुणात्मक संग्रह प्रकाशित किया था। इसके अनुवादक एस० लिपकिन नामक कवि थे, जिन्हें ई० विनोविच तथा सेरेब्र्याकोव नामक भारतीय-भाषाविदों ने सहायता दी थी। "बनारस के प्रसिद्ध जुलाहे", जो नाम उन्हें जवाहर लाल नेहरू ने दिया था, की प्रभावपूर्ण वाणी अध्येताओं के अध्ययन कक्ष से ऊपर उठकर सोवियत के नगरों और गांवों के लोगों तक पहुंची। अनेक बार कबीर की कविताएं रेडियो से प्रसारित हुई और विद्यार्थियों, स्कूलों, कारखानों और गांवों के क्लबों में सुनी गयी।

कबीर की कविताओं का रूसी अनुवाद करना बहुत ही कठिन काम साबित हुआ क्योंकि इसके लिए मध्यकालीन भारत के एकदम भिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक मतों, आदर्शों और रस्मों की गहराई तक समझना जरूरी था। किंतु अनुवादकों ने बिना अनावश्यक काट-छांट किए हुए एकदम दूसरे रहन-सहन और जीवन पद्धति में पैदा पदों और धारणाओं को पाठकों तक पहुंचाने का प्रयत्न किया है।

क्षित रख पाने की कला के लिए अनुवादक बधाई के पात्र हैं। सोवियत के कुछ विद्यार्थी जो पूर्वी साहित्य में विशेष अध्ययन कर रहे हैं, हाल में ही, मध्ययुगीय पूर्वी साहित्य और यूरोपीय पुनर्जागरण काल के साहित्य के बीच संबंध की संभावना पर बहस कर रहे थे और दोनों के बीच समानताएं खोज रहे थे।

पूर्वी पुनर्जागरण का विचार इस देश में सबसे पहले अध्यापक एन० आई० कोनरोव ने, सुदूर पूर्व के मध्ययुगीय साहित्य के अध्ययन के बल पर प्रस्तावित और पुष्ट किया था। प्रोफेसर आई० एस० ब्रैगिसकी भी पाते हैं कि मध्ययुगीय ईरान में एक पुनर्जागरण काल हुआ है। जहां तक भारत के मध्ययुगीय साहित्य का प्रश्न है, सभी भारतीय पुनर्जागरण के विचार का पोषण करने वाली कबीर की कृतियों की ओर संकेत करते हैं।

दांते और पेटार्क की मृत्यु के 100-150 वर्ष बाद जन्म लेने वाले कबीर, एरेस्मस, रेबैले, लियोनार्दोदा विंची, रैफएल और आन्द्रे रुबलेव के समकालीन थे। पर यूरोपीय पुनर्जागरण के दर्शन तथा साहित्य से किसी भी प्रकार उनके प्रभावित होने का प्रश्न नहीं उठता।

कबीर का काव्य भारत की मिट्टी पर उपजा और बढ़ा। वह जन मानस एवं मध्यकालीन भारत की संपूर्ण संस्कृति में भक्ति आंदोलन के प्रभाव के अंतर्गत होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों को प्रतिबिंबित करता है। यह धार्मिक सुधार आंदोलन ब्राह्मणों की विद्वत्ता, सामाजिक अन्याय तथा सामंती शासकों के प्रति नगर और देहात दोनों के कामगारों, मजदूरों तथा निर्धन लोगों के बढ़ते हुए विरोध का विचारात्मक आधार था। उस समय, अन्यायपूर्ण जाति प्रथा के प्रति प्रचलित असंतोष ने शुभ, संदर, सत्य और नियमन को आत्मसात् करने वाले प्रभु विष्णु की उपासनारत बहुत से विमुख संप्रदायों एवं शाखाओं को विकसित किया। भक्ति आंदोलन ने मध्यकालीन शास्त्रीयता के संकटों तथा विश्वासों पर आधारित हिंदू दर्शन के विरोध की सूचना दी। इस प्रकार, इसने मुख्य रूप से एक जन-प्रिय लोक-साहित्य के विकास को प्रोत्साहन दिया।

हम कबीर की परंपराओं में जितनी गहराई तक उतरते हैं, हमें उतना ही अधिक विश्वास होता है कि कबीर के संपूर्ण कृतित्व की मूल वस्तु मानवतावाद है। उनमें मनुष्य के दैवी स्वभाव को तो पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया है जबकि दैनिक चिंताओं और संघर्षमय संवेगों से युक्त मांस और रक्त से बने हुए साधारण मानव को भरपूर स्थान दिया गया है।

पुनर्जागरण की प्रवृत्तियां कबीर की उन कविताओं में भी व्यक्त हुई हैं जिनको धार्मिक अंधविश्वासों और हठवादों के मुकाबले रखा गया है। कवि घोषित करता है कि मनुष्य न तो परम आनंद प्राप्त कर सकता है और न स्वतंत्रता ही,

जव तक वह निर्जीव मूर्तियों को पूजता है और अंधी धार्मिक ईर्ष्या से दबा हुआ है।

कवि सभी प्रकार के पाखंडियों--हिंदुओं, मुसलमानों, ब्राह्मणों और मुल्लाओं--को चिढ़ाता है। वह उनकी छद्मवेशी पवित्रता को, बिना थोथे संतपन और सम्मानितता का कुछ भी अंश छोड़े हुए, उतार फेंकता है।

कवीर कहते हैं--

कावा में, मक्का में, मस्जिदों में, हिंदू मंदिरों में कहीं ईश्वर नहीं है। और वह पुकार लगाते हैं कि "उसके लिए ईश्वर का कोई उपयोग नहीं जिसका हृदय सत्य से खाली पड़ा हुआ है।" सच्ची पवित्रता एवं शुद्धता न मस्जिदों और मंदिरों में वसती है और न वेदों, अथवा कुरान में। वह मनुष्य में व्याप्त है, उसके पार्थिव जीवन में उसकी स्वार्थहीनता, दयालुता, ईमानदारी और सच्चाई में। इसलिए, सामूहिक प्रार्थनाओं, तीर्थयात्राओं और देवताओं की निरर्थक पूजा में समय वरवाद न करो। मनुष्य की ओर अपनी निगाह घुमाओ, सत्य की खोज में उसकी सहायता करो और उसे दिखाओ कि सच्चा सौंदर्य और आनंद कहां हैं।

कवीर के लिए सत्य, दया और प्रेम के प्रत्यय उस ईश्वर के पर्याय हैं जो न्यायकर्त्ता एवं गरीवों पर दया करने वाले तथा ऐसे प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वंद है जिसने कभी उसकी आवाज़ सुनी है। इस प्रकार, ईश्वर के प्रति रहस्यमय प्रेम जो जीवन की विषमताओं और यातनाओं से मुक्त करने का साधन समझा जाता था साधारण मानवीय प्रेम में परिणत हो जाता है, जो मनुष्य को वीरता का काम करने और पृथ्वी पर जो भी शुभ एवं सुंदर है उसकी रचना करने के लिए प्रेरित करता है।

कवीर की प्रार्थना कविताएं, जिसमें वह ईश्वर से फरियाद करते हैं, प्रायः अपने सच्चे प्रेमी से संवेगशील पुकार लगती है। प्रेम को अति शुद्ध और मनुष्य की सामर्थ्य सवसे उदार संवेग के रूप में जाकर कवि कहता है कि प्रेम ही नित्य है। प्रेम ईश्वर से भी महान और शक्तिशाली है।

महान कवीर की साहित्य परंपरा शीघ्र ही सोवियत वासियों की पहुंच में ला दी जाएगी और इस प्रकार भारतीय संस्कृति के एक और चमकदार पृष्ठ से उनका परिचय होगा।

सूरदास और मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति का विकास

पन्द्रहवीं सदी के मध्य भाग में हमें भारत में कुछ ऐसे आर्थिक प्रक्रमों का जन्म होता दिखाई देता है जैसे उत्पादक बलों का उद्भव, व्यापार-महाजनी पूंजी-निर्माण का पुष्टीकरण, स्वदेशी और विदेशी व्यापार की संवृद्धि तथा कस्बाई और नगरों के जीवन का विस्तार। मतलब यह हुआ कि सामंतीय अर्थव्यवस्था के गर्भ में कुछ प्रक्रम प्रबल वेग से चल रहे थे जिनसे उत्पादक बलों और उत्पादन के क्षेत्रों के ढांचे में बड़े-बड़े परिवर्तन हो सकते थे। श्रमजीवी वर्ग, जो कुल आबादी का बहुसंख्यक भाग था, सामंतीय और जात-पांत के कठोर अत्याचार से पीड़ित था; अपने अधिकारों से वंचित किये जाने के कारण वे असंतोष प्रकट करते थे और वे खुलकर सामाजिक और बौद्धिक स्वतंत्रता की मांग करने लगे। इन सामंतीयता-विरोधी आंदोलनों में मुख्य भूमिका धार्मिक पुरोहित वर्ग, बुद्धि-जीवियों, विचारकों और कवियों की रही जो जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। ये ही लोग, जिन्हें नये मानव करुणावादी बौद्धिक वर्ग कहा जा सकता है, स्वतंत्रता के आदर्शों के प्रकाश स्तंभ थे जिन्हें आम जनता ने अपनाया। फ्रेडरिक एँजेल्स ने अपनी रचना 'लुडविग फ्यूअरबैख और क्लासिकल जर्मन फिलासफी का अंत' में लिखा था कि जनता की भावनाएं केवल धार्मिक विश्वासों से पोषण ग्रहण करती हैं; इसी कारण कोई प्रचंड आंदोलन शुरू कराने के लिए इसे जनता के हितों को ही धार्मिक जामा पहना कर उसके सामने पेश करना पड़ता था।

जैसाकि भारत में कई बार देखा गया है, धर्म समाज के लोकतंत्रीय तथा रूढ़िवादी बलों के बीच संघर्ष का अखाड़ा बन जाता है। लोकतंत्रीय बल प्रति-क्रियावादी बलों की तानाशाही से मुक्ति पाने का यत्न करते हैं; वे धार्मिक कट्टरता और कठोर मान्यताओं का खुल कर विरोध करते हैं। धर्म की सीमाओं के भीतर एक सर्वथा नया दृष्टिकोण पैदा हो जाता है जो मनुष्य का स्वाधीन अस्तित्व कायम रखते हुए उसे सारे क्रियाकलाप के केंद्र में रखता है।

भारत में भक्ति के धार्मिक दार्शनिक विचार, जिनका स्वरूप लोकतंत्रीय

था, सामंतीय अत्याचार के और ऐसे धार्मिक मंतव्यों के विरोध में प्रतिक्रियास्वरूप पैदा हुए थे जिन्होंने श्रमजीवी वर्गों की पराधीन स्थिति को कानूनी स्वीकृति दे रखी थी। चिंतन के तत्त्व के रूप में रूढ़िवादी धार्मिक मंतव्यों के खिलाफ विरोध का स्वर भक्तिकाव्य में धर्म शिक्षित रहस्यवादियों की रचनाओं में सुनाई देता है। ये लोग पंडित-पुरोहितों की मध्यस्थता के बिना ही ईश्वर से तादात्म्य संभव मानते थे और यह समझते थे कि ईश्वर के साथ सीधे ही वार्तालाप किया जा सकता है—उसके साथ तादात्म्य करके—और ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य बुद्धि के बजाए भावनाओं के ज़रिए कर सकता है। भक्ति साहित्य के धर्म-विरोधी रहस्यवाद की, जो धार्मिक पांडित्यवाद और मूर्तिपूजा के विरोध में था, जनता के उभरते हुए वैचारिक संघर्ष में मुख्य भूमिका रही। फ्रेड० एंजल्स ने अपनी रचना 'जर्मनी में किसानों का युद्ध' में कहा था कि सामंतवाद का क्रांतिकारी विरोध मध्य युग से चला आता है : यह ऐतिहासिक अवस्थाओं के अनुसार, कभी रहस्य-वादियों के रूप में, कभी खुले धर्मविरोध के रूप में या कभी सशस्त्र विप्लव के रूप में बार-बार सामने आता है।

भक्ति काव्य के रहस्यवाद के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह मनुष्य और ईश्वर के बीच सीधे संपर्क को उसी प्रकार स्वीकार करता है जैसे पुनर्जागरण काल का रहस्यवाद। तर्कसंगतिवाद (रैशनलिज़्म) की ही तरह (एक प्रमुख सोवियत वैज्ञानिक एन० आई० कौनरेद के अनुसार) पुनर्जागरण प्ररूप का रहस्य-वाद कठोर मंतव्यों के चंगुल से मानव अंतःकरण को मुक्त करने की दिशा में ले जाने वाला मार्ग है, यह मार्ग पूर्ण मानसिक और सर्जनात्मक मुक्ति के लोक में पहुंचा देता है : यह चीज़ मानव चिंतन, सामाजिक जीवन, संस्कृति और विज्ञान के परवर्ती विकास के लिए आवश्यक थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भक्ति काव्य का धर्म के साथ निकट संबंध होने का यह अर्थ नहीं है कि इसका यूरोपीय पुनर्जागरण के साथ सादृश्य संभव नहीं—यूरोपीय पुनर्जागरण के भी कई अंश धर्म के साथ जुड़े हुए थे।'

जैसे यूरोपीय पुनर्जागरण पुरातन के पुनर्मूल्यांकन पर आधारित था, वैसे ही भक्त-कवियों ने अपने आदर्शों के प्रचार के लिए प्राचीन काल से जीवनतत्त्व पाने की कोशिश की और इसमें बहुत व्यापक प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं का सहारा लिया। लेकिन उन्होंने उन प्राचीन परंपराओं को जैसे का तैसा अपना लेने के वजाय उनकी फिर से जांच की और उन्हें उस समय की ऐतिहासिक अवस्थाओं के अनुरूप नया स्वरूप दिया। पुरानी परंपरा की नयी दार्शनिक व्याख्या, 'अतीत पर लौटने' का नारा लगाते हुए जनता को बोलचाल की भाषा और बोलियों में उपलब्ध काव्य रूपों में नये विचारों और प्रेरक भावों की अभि-व्यक्ति सारे भक्ति साहित्य की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं। इस प्रकार, भक्ति

आंदोलन ने, जो भारत की आम जनता की उभरती हुई राष्ट्रीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति था, राष्ट्र की भाषाओं और बोलियों में साहित्य के और अधिक विकास को प्रोत्साहित किया। आधुनिक भारतीय भाषाओं—हिंदी, बंगाली, मराठी, पंजाबी, गुजराती—के विकास में भक्ति साहित्य के महान कवियों का बड़ा योगदान रहा। ये जन-सामान्य के लिए लिखने वाले लोग थे और इन्होंने मध्यकालीन भारत की परंपरागत साहित्यिक भाषा, लौकिक संस्कृत, को ठुकरा दिया और उस समय की लोकभाषाओं में उत्कृष्ट साहित्य की रचना की। उस समय के यूरोप में भी हमें ऐसी ही तस्वीर दिखाई देती है जहां पुनर्जागरण काल में क्लासिकल लैटिन भाषा का स्थान बोलचाल में प्रचलित भाषाओं ने ले लिया था।

सूरदास की कृतियों को, जो भक्ति काव्य का सर्वोत्कृष्ट अंश हैं, मध्यकालीन भारत की संस्कृति में दिखाई देने वाली पुनर्जागरणकालीन विशेषताओं की उभरती और बढ़ती मुख्य धारा में, कुछ सीमा तक, एक प्रवाह कहा जा सकता है। इन नवीन प्रवृत्तियों के जनक कारण ये थे : सामान्य, लौकिक मनुष्य और उसके अंतर्जगत् में दिलचस्पी और मनुष्य के चारों ओर मौजूद यथार्थ के बीच मनुष्य की सच्ची प्रकृति और स्वरूप को जानने की इच्छा।

सूर सागर में, धार्मिक विचारधारा और कृष्ण के साकार रूप के जरिए मनुष्य के सुख और समृद्धि की लालसा और उसके सामाजिक न्याय के स्वप्नों का चित्रण किया गया है। सूरसागर में ईश्वर के प्रति अनंत प्रेम और निष्काम भक्ति को मनुष्यों के साधारण लौकिक संबंधों के रूप में, विशेष रूप से लोगों की समझ में आने योग्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें भगवान कृष्ण को भारतीय किसान वर्ग के आदर्शों के अनुरूप चलता दिखाया गया है। सूरदास सच्चे अर्थों में भक्त कवि होते हुए भी चूंकि भागवत पुराण के अनुयायी थे, इसलिए उनकी जड़ें इसी धार्मिक परंपरा में हैं। परंपरा पर उनकी दृष्टि किसी मताग्रह से ग्रस्त नहीं है, बल्कि नवीनता लाने वाली है। उनके प्रधान विषयों में भागवत-पुराण की वही कथाएं, घटनाएं और विचार आये हैं जिनका संबंध कृष्ण के बचपन, किशोरावस्था और उनके ग्रामजीवन से है और जिनसे सामान्य मनुष्य की भावनाओं और भावों के चित्रण के क्षेत्र में कवि की सर्जनात्मक कल्पना को उड़ान भरने का अवसर मिलता है। भागवत पुराण के अन्य अंश जिनमें कृष्ण योद्धा और शासक के रूप में चित्रित हुए हैं, सूरदास के लिए बहुत कम दिलचस्पी के हैं और इसलिए सूरसागर में उनकी कोई अधिक काव्यमय अभिव्यक्ति नहीं हुई।

कभी-कभी सूरदास यह भूल जाते प्रतीत होते हैं कि कृष्ण भूलोक में विष्णु का अवतार हैं। कृष्ण हमें किसी साधारण देहाती लड़के जैसा लगता है— स्वस्थ, बहादुर और मेधावी, बल्कि थोड़ा चालाक और शरारती भी, और हंसमुख हंसोड़

और स्त्रियों का चहेता। यद्यपि सूरदास के काव्य को कुल मिलाकर देखें तो राधा और कृष्ण का प्रेम प्रतीकात्मक रूप में, मनुष्य की ईश्वर के साक्षात्कार की आदर्श आकांक्षा जैसा लगता है, फिर भी प्रेम की भावनाओं का चित्रण करते हुए कवि बहुत सत्यनिष्ठ और मुखर हो उठा है। सूरदास की कृतियों की इन विशेषताओं का उल्लेख अनेक शोधार्थियों ने किया है। उदाहरण के लिए, जगन्नाथराय शर्मा ने लिखा है कि सूरदास का कृष्ण प्रेम करने योग्य व्यक्ति है जो स्वयं भी प्रेम करता है और प्रेम का मूल्यांकन कर सकता है। भारतीय वैज्ञानिक आर० एस० शर्मा के उस कथन से सहमत होना ही पड़ता है कि सामंतकालीन भारत के ईश्वर के साथ सूरदास के कृष्ण का कुछ भी मेल नहीं है। वह जनता का शोषक नहीं है, उसका सच्चा मित्र और सहायक है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सामंतकालीन भारत की परिस्थितियों में सूरदास की कविता मानव को ऊंचा उठाने वाली थी— इसमें उसकी भावनाओं और आकांक्षाओं की अच्छी व्यंजना हुई है, और अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा में तथा स्वयं अपना भाग्यविधाता बनने के उसके अधिकार में उसकी आस्था ध्वनित हुई है। रहस्यवाद के ऊपर यथार्थवाद का और दिव्यता के ऊपर मानवता का तत्त्व हावी दिखाई देता है। गुलाबराय के विचार में सूरदास ने कृष्ण के दिव्य स्वरूप की उपेक्षा नहीं की है परंतु इसके कारण उन्हें मनुष्य को अपने पूरे जीवंत रूप में चित्रित करने में कोई रुकावट नहीं आयी है। कल्पनात्मक और रहस्यात्मक बिंब और विषय लेते हुए सूरदास सदा वस्तुनिष्ठ यथार्थता की आधारभूमि पर लौट आते हैं। उदाहरण के लिए, कृष्ण अपने साथियों से अपने दिव्य रूप की अभिव्यक्ति से जुड़ी सब घटनाएं भूल जाने के लिए कहते हैं और वे कृष्ण को अपना हमजोली और सखा मानते रहते हैं—भागवत पुराण के ग्वाल-बालों की स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। भागवत पुराण का सिद्धांत निरूपण कवि की सर्जनात्मक कल्पना को ठंडा नहीं कर पाता जिसका मुख्य उद्देश्य औसत, सांसारिक आदमी के यथार्थ जीवन, भावनाओं और संवेगों को प्रतिबिंबित करना है। सूरदास की कविता पर एक बंगाली विद्वान आई० एस० घोष का यह कथन लागू कर सकते हैं कि विष्णु संबंधी पद खालिस प्रेम गीत हैं और उनमें अन्योक्तिपरक कोई अर्थ नहीं है और इस संदर्भ में वे मध्यकालीन साहित्य में एक सर्वथा नवीन घटना दिखाई देते हैं जिसमें मनुष्य का अन्य मनुष्य के प्रति प्रेम, मनुष्य से संबंधित अन्य किसी भी वस्तु की तरह एक विशेष अर्थ ग्रहण कर लेता है।

योरोपीय पुनर्जागरण काल की एक विशेषता यह थी कि उसमें मनुष्य की संकल्पना महान कार्य करने के लिए जन्म लेने वाले प्राणी के रूप में थी—इस संकल्पना की तुलना सूरदास की कविता में उपलब्ध आदर्श-रूप वीर मनुष्य की संकल्पना से कुछ अंश में की जा सकती है। सूरदास मानव कल्याण की अपेक्षाओं

से बंधे न रहे— उन्होंने मानवीय आत्मसंयम के विचार को मनुष्य के कल्याण के विचार से जोड़ दिया। सूरदास का कृष्ण अपने सुख के लिए अत्याचार से मोर्चा लेता हुआ, सब दुष्ट बलों को कुचलता हुआ और अंततः धरती पर न्याय की पुनः स्थापना करता हुआ दिखाई देता है।

योरपीय पुनर्जागरण काल के साहित्य की अनेक उत्कृष्ट कृतियों की ही तरह सूरदास की कविता में भी मुख्य चीज उसका लोक-स्वरूप यानी आम लोगों में प्रचलित रूप है। कृष्ण और राधा के स्वरूप, जो जीवंत और बड़े मानव-सुलभ रूप हैं, सामान्य आदमी को आसानी से समझ में आ जाते हैं क्योंकि वे उसकी आशाओं और आकांक्षाओं के प्रतीक हैं। सूरसागर का दसवां अध्याय, जो कृष्ण के ग्राम-जीवन पर है, किसान की तीव्र मानवीय भावनाओं और उनकी सीधी-सादी जीवन-रीति तथा वर्जना-रहित प्रथाओं के सजीव वर्णनों से भरा पड़ा है। यह सब देहाती सरलता शक्ति संपन्न वर्गों की क्रूरता, कठोरता और मक्कारी से बहुत भिन्न है। एक गरीब ग्वालन यशोदा का, जिसने शिशु कृष्ण का पालन किया था, मातृत्व सूरसागर में कृष्ण की जननी रानी देवकी की मौन भावनाओं की तुलना में अधिक मुखर और मानवोचित बन गया है। सूरदास यह कहते प्रतीत होते हैं कि सच्ची भावनाओं की अभिव्यक्ति महलों में नहीं, किसी किसान के झोंपड़े में ही होने की अपेक्षा की जा सकती है। इसीलिए सूरदास के चित्रण, जिनमें अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, भारतीय जनता की जीवनधारा बन गए हैं चूंकि वे उनके मानसिक दृष्टिकोण के अखंड भाग हैं। सूर-सागर के कथ्य, विषय और वृत्त जनता के जीवन और प्रकृति से लिए गए हैं। प्रगतिशील मानवतावादी विचारों को उनमें लोक साहित्य के सदृश रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसने सूरदास की कविता को उनके देशवासियो में विशेष रूप से प्रिय बना दिया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि कवि की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण लोकसाहित्य से उसका घनिष्ठ संबंध होना ही है। सूरसागर से एक प्राचीन काव्य-गान-परंपरा का पुनर्जन्म होता दिखाई देता है जो कुछ समय से लुप्त थी।

सूरदास की कविता का लोक-स्वरूप इस बात से भी स्पष्ट होता है कि इसमें ऐसे अनेक प्रश्न उठाए गए हैं जो उस समय के लोगों के लिए मार्मिक महत्त्व के थे, उदाहरण के लिए, जात-पांत के अत्याचार, सामाजिक विषमता हिंदू मुस्लिम विद्वेष के विरुद्ध विरोध प्रदर्शन। उनकी रचनाओं की इस खास विशेषता को कभी-कभी भारत में विशेष लक्ष्य किया गया है। उदाहरण के लिए, जगन्नाथ राय शर्मा ने लिखा है कि सूरदास की कविता में हमें न केवल स्वयं कवि की, बल्कि सारे ही हिंदुओं की वाणी सुनाई देती है। उनकी कविता में पीड़ा और शोक की भावनाएं किसी सच्चे जनकवि के भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति करती हैं जो अपने देशवासियों की दयनीय दुर्दशा के बारे में सोचता हुआ विचारों की गहराई में कहीं खो गया है।

भक्ति काव्य का अध्ययन परंपरागत रीति से करें तो यह अविभाज्य और एक-रूप मालूम होता है। फिर भी भक्तिकाव्य में राम और कृष्ण के पंथों (सगुण भक्ति या निर्गुण भक्ति) से संबंधित विषयों और कथ्यों की सिर्फ एक ही किस्म नहीं है, बल्कि इसके आदर्श और सौंदर्य-सामग्री अत्यधिक बहुरंगी और विवादास्पद है किन्तु इस तथ्य पर शोधकर्ताओं का ध्यान नहीं गया है। भक्ति काव्य में दिखायी देने वाली कुछ नयी प्रवृत्तियों का संबंध नये तत्त्वों के प्रभाव से है जो नयी संस्कृति और मध्यकालीन विद्वानों के विचारों में आम तौर से दिखायी देते हैं। इस प्रसंग में यह बात नजर से नहीं छिप पाती कि योरुपीय पुनर्जागरण का स्वरूप भी एक-रूप नहीं था। भक्तिकाव्य में व्यक्ति लोकतंत्रीय प्रवृत्तियां, जो सामंतीय विचार-धारा के खिलाफ जनता के विरोध और मानवतावादी आकांक्षाओं के रूप में प्रकट की गयी हैं; कुछ कट्टरधार्मिक-दार्शनिक विचारधाराओं के साथ मेल करके बैठी हुई हैं। इसमें प्रगतिशील और परिवर्तन विरोधी तत्त्वों का एक विचित्र एकीकरण विरोधों से भरपूर मध्यकालीन समाज के अस्थायी जीवन का यथार्थ चित्र पेश करता है। भक्तिकाव्य की लोकतंत्रीय-प्रवृत्तियों में कुछ ऐसी विशेषताएं दिखाई देती हैं जो कुछ अंशों में इसे पुनर्जागरण काल की संस्कृति से मिला देती हैं। एफ. ऐंजल्स के अनुसार, पुनर्जागरण के काल में महाबली लोगों की जरूरत थी और उसने महाबलियों को जन्म दिया। इसी प्रकार भक्ति आंदोलन ने ऐसे महान कलाकारों और विचारकों को जन्म दिया जैसे सूरदास, कबीर, तुलसीदास, मीराबाई, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, चंडिदास, गुरूनानक और अनेक लोग जिनकी कृतियां आज तक जनकला के प्रतिभापूर्ण नमूने मानी जाती हैं।

पुनर्जागरण के तत्त्व न केवल भक्ति साहित्य की लोकतंत्रीय प्रवृत्तियों में बल्कि मध्यकालीन कला के अन्य रूपों में भी लक्ष्य किये जा सकते हैं। भारतीय चित्रकला में अब एक नया यथार्थवाद पाया गया जिसमें पहले आम जनता के जीवन की झलक के लिए कोई स्थान नहीं था और वह संभ्रांत वर्ग तथा दरबार तक सीमित रही थी। भक्ति के विचार ने, उदाहरण के लिए, राजपूत कला-शैली को जन्म दिया जिसमें इसे पुनर्जागरणकाल से जोड़ने वाले कुछ सूत्र स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। राजपूत चित्रकारों की यथार्थवादी रचनाओं में कृष्ण और राधा केन्द्रीय पात्र बन जाते हैं जिनमें प्रेम और भावनाओं का गहरा रूप प्रदर्शित होता है। दिनकर कौशिक ने लिखा है कि राजपूत चित्रकला में हम जितना अधिक गहरे जाते हैं उतना ही हमारी सांस हलकी पड़ जाती है, उतनी ही स्पष्ट एक ताजी हवा की लहर हमें अनुभव होती है"'मानव-भावनाओं का स्वरूप और जगत ऐसे तरीके से पेश किया गया है जैसे मानों चित्रकार संसार को ऐसे बालक की दृष्टि से देखता हो जिसने संसार की कल्पना अभी समझी है। यह महत्त्वपूर्ण बात उल्लेखनीय है कि दिनकर कौशिक राजपूत चित्रकला के मानवतावादी पहलू

नवीनताजनक रूप का वर्णन करके ही नहीं रुक जाता, बल्कि उसे इसमें एक सामान्य विश्व संस्कृति के विकास की झलक भी दिखाई देती है, और इसे वह पुनर्जागरण काल के सौंदर्यबोध से मिल रहा है।

कुछ भारतीय विद्वानों ने अपनी रचनाओं में भक्ति-साहित्य का मूल्यांकन करते हुए इसे सीधे तौर से पुनर्जागरण काल से नहीं जोड़ा है। फिर भी उन्होंने पुनर्जागरण काल की कई विशेषताएं इसमें देखी हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि पंद्रहवीं शती के आरंभ से ही हिंदी साहित्य एक सर्वथा जीवन्त दिशा में विकसित हो रहा है; ऊंचे आदर्शों की आकांक्षा करते हुए जन साहित्य विकास के एक नये दौर में पहुंच गया है'''और बल पकड़ रहा है। रामविलास शर्मा दृढ़ शब्दों से कहते हैं कि भक्ति साहित्य अंग्रेज उपनिवेशवादियों की इन झूठी बातों का पर्दाफाश कर देता है कि भारत पर अंग्रेजों की विजय से ही यहां सांस्कृतिक पुनर्जागरण के अनुकूल परिस्थितियां बन पायीं; भक्ति काव्य वह लोकतांत्रिक आधारभूमि है जिस पर बाद में जनता की सच्ची संस्कृति का महल खड़ा हुआ।

भारतीय कला पर पुनर्जागरण काल के प्रभावों का अध्ययन करते हुए कुछ भारतीय लेखकों ने 'पुनर्जागरण' शब्द का प्रयोग एक संकीर्ण अर्थ में किया है और भारतीय संस्कृति के विकास के 15वीं से 17वीं सदी तक के काल को यह नाम दिया है। उदाहरण के लिए, सत्यकाम वर्मा ने लिखा है कि जब रामानंद का प्रभाव फैल चुका था और कबीर उत्तर भारत में अपने गीत गाना शुरू कर चुके थे, उसके बहुत समय बाद, खासतौर से हिंदी साहित्य में, भक्ति और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आवाज उभरनी शुरू हुई। ध्यान देने की बात यह है कि उनकी पुस्तक में भक्तिकाव्य के विश्लेषण वाले अध्याय का शीर्षक 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण का साहित्य : भक्ति काल (1400-1620)' रखा गया है।

मध्यकाल की भारतीय संस्कृति और योरपीय पुनर्जागरण की संस्कृति में प्ररूपात्मक साम्य की विशेषताओं का विश्लेषण करने के हमारे प्रयत्नों की गूंज रूसी भाषा की कई रचनाओं में सुनाई देती है और उसकी प्रतिध्वनि भारत में 'रिनेसां इन इंडिया' (भारत में पुनर्जागरण) शीर्षक लेख में हुई है जो 'प्रौबलम्स आफ मॉडर्न इंडियन लिटरेचर' (आधुनिक भारतीय साहित्य की समस्याएं) (कलकत्ता, 1974, स्टेटिस्टिकल पब्लिशिंग सोसाइटी, पृ० 76-105) में प्रकाशित हुआ है।

उदाहरण के लिए, डा० प्रभाकर माचवे मेरे मत की पुष्टि करते हुए इन शब्दों में मार्क्सवादी स्वरूप की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि भारत में पुनर्जागरण भारत पर अंग्रेजी विजय के फलस्वरूप नहीं शुरू हुआ—उस स्थिति में वह योरपीय संस्कृति के अनुरूप होता—बल्कि कबीर और उसके समकालीन कवियों के करुणामूलक विचारों के परिणामस्वरूप आया जिनकी कविता जनता की

कविता है। (नवभारत टाइम्स, दिल्ली 29 फरवरी, 1970) जगदीश बौरा के अनुसार, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में पुनर्जागरण की घटना के बारे में हुई शोधों ने भारतीय इतिहासकारों में बहुत फैले हुए इस विचार को गलत सिद्ध कर दिया है कि भारत में पुनर्जागरण के जन्मदाता राममोहन राय थे जिन्हें ये चेलिशेव प्रबोध (एनलाइटेनमेंट) का संस्थापक मानते हैं। (राष्ट्रदूत 2 दिसंबर, 1970) शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है कि भारत के इतिहास में नई खोज और परीक्षा की आवश्यकता है। (लिंक, 8 मई, 1971) भारतीय लेखकों के इस प्रकार के विचार हमारे लिए बड़े दिलचस्प हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 15वीं से 17वीं सदी तक की भारतीय संस्कृति, जिसकी एक सर्वोत्तम अभिव्यक्ति सूरदास की काव्य-सृष्टि है, पुनर्जागरणकाल की प्रवृत्तियों से प्रभावित हुई थी। भारत में इसी काल में एक राष्ट्रीय संस्कृति की नींव रखी गयी थी जिसका बाद में 19वीं सदी में, प्रबोध काल में और विकास हुआ। एक नये युग को जन्म देने वाली पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ उस काल की संस्कृति में मध्यकालीन प्रवृत्तियों का विकास भी होता रहा। इन दोनों में जटिल पारस्परिक क्रिया हुई जिससे समकालीन भारत के सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में दोनों का प्रगाढ़ आलिंगन और साथ ही सर्वथा अलगाव भी दिखाई देता है।

15वीं से 17वीं सदी तक के काल में भारतीय संस्कृति में मौजूदा पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए हमारा यह आशय कतई नहीं है कि हम योरपीय पुनर्जागरण की घटना से इनका तादात्म्य बतायें—इतना ही है कि दोनों में प्ररूपात्मक सादृश्य है। भारतीय संस्कृति की पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों और उनकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति—सूरदास की कृतियों—में राष्ट्रीय छटाएं हैं जो भारत के ऐतिहासिक विकास की अपनी विशिष्टताओं में स्पष्ट दिखाई देती हैं। योरप और एशिया में दीखी वे नई साहित्यिक और कलात्मक प्रवृत्तियां, जो समसामयिक हैं क्योंकि वे उसी ऐतिहासिक काल—13वीं सदी से लेकर 17वीं सदी के आरंभ तक—की हैं, बहुत ही भिन्न और वैविध्यपूर्ण हैं, लेकिन एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उनको एक-दूसरे से जोड़ती है—कुल मिलाकर वे नयी कला की अभिव्यक्ति हैं जो सामंतीय धार्मिक विचारों से किनारा करती हैं और मानव के प्रति नयी भावना से ओत-प्रोत है।

हम यह अनुभव करते हैं कि मध्यकालीन भारतीय संस्कृति में, जिसमें सूरदास का काव्य भी शामिल है, पुनर्जागरण काल की प्रवृत्तियों का और अनुसंधान अपेक्षित है जिसमें मध्यकालीन भारत का अध्ययन करने वाले साहित्यिकों, दार्शनिकों, इतिहासकारों, कला-शोधकों, अर्थशास्त्रियों और भाषा-वैज्ञानिकों को मिल कर कार्य करना चाहिए।

मिर्ज़ा गालिब और भारतीय साहित्य

गालिब को ज़माने से बहुत आगे का कवि माना जाता है क्योंकि उनकी कविता भारतीय साहित्य में एक निराली घटना थी। गालिब. कैसे जन्मा ? इस विलक्षणता का प्रादुर्भाव कैसे हो सका ? इन प्रश्नों पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है।

हर कवि की तरह गालिब भी अपने युग, अपने देश और अपने लोगों से पूरी तरह जुड़े हुए थे। उन्हें उर्दू और फ़ारसी साहित्यों की सीमाओं में बांध कर नहीं रखा जा सकता। उनकी कविता सारे भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में; भारत-पाकिस्तान उपमहाद्वीप की सारी जनता की कला-चेतना के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस कारण हमारी धारणा है कि गालिब को अधिक अच्छी तरह समझ सकने के लिए और उनकी जटिल तथा परस्पर-विरोधी विश्व दृष्टि को पूरी तरह जानने के लिए हमें उनकी जांच-परख सारे भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि में, इसके विकास की मुख्य विशेषताओं के संदर्भ में, करनी चाहिए।

जिस युग में गालिब हुए थे वह काल भारत के लिए बड़ा कठिन था—वह गहरे परस्पर विरोध और अति स्पष्ट वैषम्यों का काल था, जिसमें एक समाज का जन्म हो रहा था और दूसरे की मृत्यु हो रही थी, पुरानी संस्कृति बिखर रही थी और एक नयी संस्कृति का उदय हो रहा था। विनाश और सृजन के इस दोहरे सांचे में उनकी शायरी ने रूपाकार ग्रहण किया। जिन चीजों से कवि का इतना घनिष्ठ संबंध था उन सबको धराशायी होते देखकर उत्पन्न दुःख और निराशा की भावनाएं उनकी कविता में नये जीवन का स्वागत करते हुए, मानव की महानता और अमरत्व में अटल आस्था व्यक्त करते हुए उत्पन्न हर्ष की भावना से घुल-मिल कर एकाकार हो गईं। गालिब दो युगों-मध्य और आधुनिक —के संधिकाल में हुए; यह समय एक मरणोन्मुख संस्कृति के विलाप और नयी संस्कृति के अदम्य अभ्युत्थान का काल था।

सारी ही उन्नीसवीं सदी में भारत के सांस्कृतिक वातावरण की विशेषता यह रही कि पुराने और नये का, मरणासन्न का और नया जन्म ले रहे अस्तित्व

का एक जटिल संश्लेषण हुआ। अनेक विभिन्न राग, जिनमें से कुछ विवादी स्वरों जैसे थे और कुछ दूसरों को खत्म कर देने को तत्पर थे, इस गायन-गोष्ठी में सुनाई दिए लेकिन अभ्यस्त कान मुख्य प्रवृत्तियां पहचानने में कहीं न चूके।

प्रवृत्तियों की इतनी विभिन्नता होते हुए भी उन्नीसवीं सदी के भारतीय साहित्य में विकास की एक स्पष्ट रेखा दिखाई देती है जो कुल मिला कर देश के व्यापक आर्थिक और सामाजिक-राजनीतिक जीवन को प्रतिबिंबित करती है। अधिकतर भारतीय विद्वानों ने जिनमें उमाशंकर जोशी और अतुलचन्द्र गुप्त भी हैं, इसे 'नवजागरण' नाम दिया है। हमें 'नवजागरण' शब्द पर कोई आपत्ति तो नहीं है क्योंकि यह कुछ मात्रा में उन्नीसवीं सदी में भारतीय लोगों के साहित्य के पुनरुत्थान को प्रतिबिंबित करता है, पर हम यह अनुभव करते हैं कि इस काल को 'प्रबोध काल' कहना अधिक उपयुक्त होगा। 19वीं सदी के साहित्य में पश्चिमी देशों और कुछ पूर्वी देशों के व्यापक जन प्रबोधन के उस साहित्य की बहुत-सी विशेषताएं मिलती हैं जिसे यह नाम दिया गया है।

आइए, अब भारत में प्रबोधन के साहित्य के उदय और विकास की अवस्थाओं का पता लगाएं और इसके विशिष्ट विचारों और इसकी कलात्मक तथा राष्ट्रगत विशेषताओं पर दृष्टि डालें।

18वीं सदी के पिछले हिस्से से शुरू काल में भारत ने अपने आप को एक गहरे आर्थिक और सामाजिक-राजनीतिक मोड़ की उथल-पुथल में पाया जो सामंतशाही, उसके घिसे-पिटे सामाजिक-राजनीतिक, धार्मिक-दार्शनिक और कलात्मक विचारों तथा संकल्पनाओं के ध्वंस से पैदा हुई थी। सामन्तवादी व्यवस्था के भीतर पूंजीवादी प्रवृत्तियां पैदा हो गयी थीं और वे अधिकाधिक तेजी से बढ़ रही थीं। भारत में नयी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का उदय ऐसे समय हुआ जब देश औपनिवेशिक गुलामी का शिकार हो चुका था और उसे धीरे-धीरे ब्रिटेन के लिए कृषिगत कच्चे सामान मुहय्या करने वाला बनाया जा रहा था।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा भारत को गुलाम बना लिए जाने से देश के आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गए थे और इस तरह देश के जीवन में एक नये युग का सूत्रपात हुआ था।

भारतीय समाज के सारे ढांचे में बुनियादी परिवर्तन हो गए थे। 19वीं सदी के साथ भारत में एक ऐसे भारतीय भद्रलोक का उदय हुआ जिन्हें पश्चिमी शिक्षा मिली थी और जिन्होंने देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन के नवीकरण में, एक नयी विचारधारा और संस्कृति के विकास में, भारत के जनगण में राष्ट्रीय चेतना जगाने में और वे समस्याएं हल करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की जो सारे देश पर प्रभाव डालती थी। 19वीं सदी के नये बुर्जुआ भद्र समुदाय

के सदस्यों ने भारत को एक अखंड समष्टि, एक 'एकात्मक राष्ट्र' के रूप में देखना शुरू किया क्योंकि विदेशी राजनीतिक विजय दृढ़ता से जम जाने और पूंजीवादी संबंधों का उदय हो जाने पर देश का सामंतीय अपखंडन हो गया और कुछ मात्रा में आर्थिक और राजनीतिक एकता पैदा हो गयी जो भारत में बुर्जुआ समाज के निर्माण की नयी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आ गयी थी। सारे भारत में हुई आर्थिक और सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल ने देश के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की एक जैसी प्रवृत्तियों को जन्म दिया जिसका आधार राष्ट्रीय जागरण की भावना थी। भारत के विभिन्न प्रदेशों में आर्थिक, सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के स्तरों की भिन्नता के कारण, जो ब्रिटिश प्रभाव के ग्रहण के अनुसार भिन्न हो गए थे, उथल-पुथल की यह प्रक्रिया सारे भारत में एक समान नहीं रही।

नये युग का श्रीगणेश पहले भारत के पूर्वी भाग, बंगाल में हुआ। धीरे-धीरे यह सारे भारत में फैल गया पर शुरू में यह मद्रास और बंबई पहुंचा और बाद में मध्य तथा उत्तरी भारत के प्रदेशों तक आया।

भारत में राष्ट्रवादी विचारधारा और प्रबोध साहित्य के सूत्रधार राममोहन राय थे। उनके असाधारण रूप से रचनात्मक और पुष्ट विचार नये साहित्य के विकास के आधार बन गए और उनसे ही इसकी कथ्य-संबंधी विशेषता और कलात्मक विशेषताएं निर्धारित हुईं। मध्यकालीन पिछड़ेपन और धार्मिक मतांधता से जोरदार संघर्ष करने, तर्क और विज्ञान को सामंतीय-धार्मिक अज्ञान से ऊपर रखने के लिए और नये सामाजिक संबंधों की प्रतिष्ठा के लिए की गयी राममोहन राय की अपील को बहुत सारे भारतीय लेखकों का समर्थन मिला और इसने उन्हें प्रबोध के विचारों से परिपूर्ण साहित्य लिखने की प्रेरणा दी। बंगला का प्रथम सामाजिक उपन्यास, जो उपदेशपरक उपन्यास था और जिसका नाम 'अलालेर घरेर दुलाल' (धनी घर का बिगड़ा लड़का) था, 1857 में राममोहन राय के एक अनुयायी प्यारेचन्द मित्र ने लिखा था।

1854 में रामनारायण तर्करत्न (1822-86) के लिखे नाटक 'कुलीन कुशरबश्व' (ब्राह्मण के लिए अपने सम्मान से बढ़कर कुछ नहीं) के प्रकाशन से एक नयी प्रवृत्ति आरंभ हुई— इस नाटक में दकियानूसी हिंदू कर्मकांड पर व्यंग किया गया था।

बंगला तथा भारतीय जनगण के अन्य साहित्यों में प्रबोध काल के आरंभ में एक राष्ट्रव्यापी प्रयोग की भाषा विकसित करने का यत्न दिखाई देता है। राममोहन राय को आधुनिक बंगला का संस्थापक, 'बंगला गद्य का पिता' कहना ठीक ही है।

मानवतावाद उन बंगला लेखकों की रचनाओं में आ गया जिन्होंने प्रबोध का विचार अपना लिया था। जनता की सच्ची हालत जो मध्यकालीन सामंतवाद के भार से दबी हुई थी और रहस्यवाद के पर्दे से ढकी हुई थी, अधिक साफ दिखाई देने लगी। नये पात्रों का प्रादुर्भाव हुआ—ये सामान्य लोग थे जो अपने वातावरण के गुलाम थे, अपनी हालत से असंतुष्ट थे, और धर्म तथा रूढ़ियों द्वारा उनका समाज में जो स्थान निश्चित किया गया था, उनके विरोध में अपनी आवाज़ उठा रहे थे। ये सामाजिक व्यक्ति थे जो अपने नागरिक कर्त्तव्यों और समाज के प्रति अपने दायित्व के बारे में सजग थे—ये वे लोग थे जिन्होंने धार्मिक कुसंस्कार त्याग दिए थे।

जिस धार्मिक-सुधार का नये साहित्य के विकास के लिए इतना बुनियादी महत्त्व था, उसके अंतर्गत सांस्कृतिक विरासत का पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया और भारतीय लोगों के राष्ट्रीय हितों की सिद्धि के लिए इसका उपयोग करने की कोशिश की गयी।

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग के बंगला लेखकों की यह इच्छा थी कि अपनी रचना में वास्तविक यथार्थ दिखाएं और वे तीखी समस्याएं प्रस्तुत करें जिनसे उस समय के प्रगतिशील भारतीय लोग परेशान थे—इससे एक प्रकार के साहित्यिक चिंतन का विकास हुआ। समसामयिक दृश्य से संबद्ध साहित्य के उदय में यथार्थ को कलात्मक प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत करने का चलन, जो भारतीय प्रबोधकाल के आरंभ के साहित्य में बहुत पाया जाता है, एक स्वाभाविक कदम था।

पश्चिम से संपर्क के कारण बहुत से बंगला बुद्धिजीवियों का योरपीय संस्कृति तथा पश्चिम में प्रचलित दार्शनिक और कला संबंधी विचारों से अच्छा परिचय हो गया और इसके परिणामस्वरूप वे अपने इतिहास और सांस्कृतिक विरासत का आधुनिक वैज्ञानिक स्थितियों से अध्ययन कर सके।

भारतीय राष्ट्रवाद की लोकतंत्रीय प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने वाले भारतीय साहित्य की मुख्य विशेषता यह थी कि भारत के भव्य अतीत का चित्र प्रस्तुत किया जाए, घटिया दर्जे के वर्तमान काल से वीरतापूर्ण अतीत का वैषम्य दिखाया जाए और प्राचीन भारतीय पुराण-कथाओं के अभिप्रायों और बिंबों का उपयोग करके भारतीय जनता की आत्मा की भव्यता की पुष्टि की जाए।

भारत के अन्य भागों में साहित्य में नई प्रवृत्तियों का जन्म लगभग उसी समय आरंभ हुआ जब बंगला साहित्य प्रबोधकाल के दूसरे दौर में प्रवेश कर रहा था। सांस्कृतिक विकास में बंगाल भारत के अन्य भागों से लगभग आधी सदी आगे था।

अपने विकास में बंगला साहित्य ने जो मार्ग अपनाया, वह कुछ अंशों में एक

अनुकरणीय नमूना और कलात्मक मानक वन गया और भारत के अन्य प्रदेशों के साहित्यों में इसके प्रतीक विधान और रूपों का अनुकरण हुआ। अन्य भारतीय भाषाओं के अनेक भारतीय लेखक प्रमुख वंगला लेखकों से वड़े प्रभावित हुए और उन्होंने वंगला से यथार्थ के कलात्मक निरूपण के नये तरीके सीखे। राममोहन राय के विचार, जिन्होंने वंगाल में प्रवोध के साहित्य की नींव डाली थी, सारे देश में फैल गए और उन्होंने सारे देश के लोगों में राष्ट्रीय चेतना जगाने में मदद दी। 19वीं सदी के महान वंगला लेखकों, मधुसूदन दत्त और वंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, की रचनाओं के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में हुए। वहुत से प्रसिद्ध लेखकों ने, जिन्होंने वाद में अपनी प्रादेशिक भाषा के साहित्य के विकास में वड़ी भूमिका निवाही, अपने लेखक जीवन का आरंभ इन वंगाली लेखकों की रचनाओं के अनुवाद करके उनका अनुकरण करके आरंभ किया था, अपनी वंगाल की यात्राओं में कलकत्ते के साहित्यिक जीवन से प्रेरणा ग्रहण की।

1920 के वाद के वर्षों में गालिव की कलकत्ता-यात्रा का उनके लेखन पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा, जैसाकि उनकी कविता के अनेक अध्ययनकर्ताओं ने कहा है। उदाहरण के लिए, पी० एल० लखनपाल ने लिखा है: "अपनी कलकत्ता यात्रा के वाद गालिव ने फारसी और उर्दू में जो कुछ लिखा उसमें ताज़गी और नवीनता है "सामाजिक व्यवस्था की अधिक व्यापक पकड़ है और मनुष्य तथा प्रकृति की अधिक गहरी समझ-बूझ है।" पिछली सदी के आठवें दशक में कलकत्ता यात्रा करने का हिंदी साहित्य के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर भी वड़ा प्रभाव पड़ा था।

जिस समय वंगाल, महाराष्ट्र और वंवई पर नवयुग का उषाकाल आ चुका था और उन क्षेत्रों में राष्ट्रीय जागरण पर आधारित एक नई संस्कृति उभर चुकी थी, उस समय भी मध्य और उत्तर पश्चिमी भारत में अभी नए प्रकाश की एक किरण भी नहीं आयी थी। दिल्ली, लखनऊ और लाहौर, जो मुस्लिम सामंतीय संस्कृति के केंद्र थे और जहां उर्दू साहित्य पनप रहा था, तथा वनारस और इलाहावाद, जो हिंदुओं के तीर्थ थे और जहां हिंदी साहित्य का जन्म हुआ, कलकत्ता, वंवई और मद्रास से वहुत दूर थे जोकि नई संस्कृति के केंद्र थे। वहां आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन वहुत समय तक गतिहीन वना रहा। सामंतीय दरवारी संस्कृति और प्राचीन भारतीय परंपराओं की जड़ें वहां गहरी थीं। धार्मिक कथ्यों की प्रधानता थी। उपनिवेशवादियों ने, विशेषतः उत्तर और मध्य भारत में जो हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य कृत्रिम रीति से सुलगा रखा था, उसने वहुत समय तक हिंदुस्तानी को न पनपने दिया जो वाद में दो साहित्यिक रूपों—हिंदी तथा उर्दू—में विकसित हुई।

लेकिन मध्य और उत्तरी भारत में हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य का आम जनता पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। यह मुख्यतः समाज के उच्च वर्गों तक सीमित था जो साम्प्रदायिक और धार्मिक विरोधों का अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उपयोग करते थे। जहां तक आम जनता का प्रश्न था, जवाहरलाल नेहरू की राय में हिंदू और मुसलमान में कोई सारभूत अंतर नहीं था। उनकी प्रथाएं, रहन-सहन और भाषा एक से थे। गरीबी और परेशानी उनकी सांझी विरासत थी।

सदियों तक भारत के उन्हीं प्रदेशों में अगल-बगल रहने वाले हिंदुओं और मुसलमानों की पारस्परिक गतिविधि, उनके ध्येयों और हितों की समानता और उनकी ऐतिहासिक नियतियों की साझेदारी ने मध्य युग में हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया, विशेष रूप से सारे मध्यकाल में हिंदी और उर्दू साहित्यों की पारस्परिक समृद्धि का मार्ग बनाया। उर्दू साहित्य भारत के उन्हीं क्षेत्रों में पनपा और फैला जिनमें हिंदी साहित्य था; दोनों साहित्य उसी जनता के साथ थे और एक ही ऐतिहासिक अवस्थाओं में विकसित हुए थे पर जहां हिंदी साहित्य ने मुख्यतः भारत की क्लासिकल विरासत से प्रेरणा ग्रहण की, वहां 14वीं और 19वीं सदियों के बीच का उर्दू साहित्य दो धाराओं का संगम था : प्राचीन फारसी परंपरा और भारत की साहित्यिक प्रकृति। हिंदी और उर्दू दोनों की मध्यकालीन कविता में दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों की जटिल पारस्परिक क्रिया दिखाई देती है : एक है सामंतीय अभिजात वर्गीय प्रवृत्ति और दूसरी है लोकतंत्रीय प्रवृत्ति। हिंदी कविता में जनता की स्वस्थ समझदारी और शोषित जनता का विरोध, जो वर्ग और जात-पांत के विचारों से अवरुद्ध था, ब्राह्मण विचारधारा से टकराया, और उर्दू कविता में वे उच्च मुस्लिम मुल्लाओं की प्रतिक्रियावादी विचारधारा से टकराये। हिंदी और उर्दू कविता में सबसे अधिक सांझा अंश उनकी लोकतंत्रीय प्रवृत्तियों में ही है जिनका मूल स्रोत बुनियादी तौर से एक ही है। हिंदी और उर्दू के अनेक लेखकों ने अपने विषय जीवन से लिए, और प्रगतिशील आदर्श प्रकट किये, जो जनता के हितों से संगत थे। उन्होंने भारतीय जनता की सर्वोत्तम राष्ट्रीय परंपरा को पुष्ट और विकसित किया।

उर्दू के लेखकों की रचनाओं में जहां एक ओर कट्टरपंथी मुस्लिम नैतिकता और शिक्षाओं के अभिप्राय, शृंगार के विषय तथा नियमबद्धता आए हैं, वहीं दूसरी ओर बहुत से मध्यकालीन उर्दू कवियों की रचनाओं में अनेक ऐसी हैं जिनमें विचार की स्वतंत्रता, धार्मिक सहिष्णुता, प्रकृति के सौंदर्य की सराहना, जीवन के आनंद की भावना और मानवता की महानता का आग्रह दिखाई देते हैं, ये प्रगतिशील अभिप्राय गोलकुंडा (16वीं सदी), मुहम्मद कुली कुतुबशाह और सदरुद्दीन मुहम्मद फ़ैज़ (18वीं शती का आरंभ), वली मुहम्मद औरंगाबादी (1667-1741), मीर मुहम्मद तकी मीर (1713-1810), मीर दर्द (1721-1784),

नज़ीर अकबराबादी (1740-1830) तथा अन्य बहुतों की कविता में पाये जाते हैं।

मध्यकालीन हिंदी कविता सूफी विचारधारा से बहुत प्रभावित हुई और उर्दू कविता पर भक्ति की विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। आम जनता की भावनाएं प्रतिबिंबित करते हुए प्रगतिशील हिंदी और उर्दू कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों के मतभेदों की बुराई की और सब भारतवासियों में मित्रता और एकता के गुण गाये।

मध्यकालीन हिंदी और उर्दू कविता का वैचारिक और कलात्मक स्वरूप एक-सा होने का एक कारण यह भी है कि दोनों भाषाओं के कवि एक ही स्रोत—लोक संस्कृति—से प्रेरणा लेते थे। लोक गीतों ने हिंदी और उर्दू कविता को पुष्ट किया और इसमें लोक-अनुभव, नये बिंब, विषय, विचार और काव्य रूढ़ियां आयीं। हिंदी और उर्दू दोनों की ही कविता में त्योहारों, ब्याह-शादियों और धार्मिक उत्सवों में गाए जाने वाले लोकगीतों की गूंज है। प्राचीन फारसी कविता के पात्र जैसे फरहाद और शीरीं, लैला और मजनूं, और प्राचीन भारतीय महाकाव्यों के पात्र, जैसे राम और सीता, नल और दमयंती, अर्जुन और द्रौपदी, सब के सब हिंदी और उर्दू कविता में गुंथे हुए हैं। बुलबुल और गुलाब, शमा और पतंगा, जो फारसी कविता के परंपरागत बिंब हैं, गंगा और हिमालय, कमल और हाथी तथा प्राचीन भारतीय परंपरा में अधिक प्रचलित अन्य बिंबों के साथ-साथ मौजूद हैं। मध्यकालीन हिंदी कविता को उर्दू कविता की शब्दावली और छंदोविधान से पुष्ट और समृद्ध हुई। बहुत हद तक हिंदी के प्रभाव से ही आधुनिक हिंदी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण तात्त्विक परिवर्तन हुआ। परिणामतः लेखकों ने परंपरागत ब्रज और अवधी बोलियां छोड़कर खड़ी बोली का प्रयोग किया।

मध्यकाल में हिंदी और उर्दू साहित्य में लोकप्रिय लोकतंत्रीय प्रवृत्तियां विकसित होने के बावजूद, और उनकी परस्पर—क्रिया के बावजूद, जिससे दोनों साहित्यों में मानवतावादी विचारों का स्पष्ट विकास हुआ, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक भी कविता में मुख्य अंश यथार्थ से अलगाव, कृत्रिमता और कामुकता से ओतप्रोत था और इसके विचार धार्मिक और रहस्यवादी थे। इसका कारण वे आर्थिक और सामाजिक-राजनीतिक अवस्थाएं थीं जो मध्यकाल के पिछले हिस्से में मध्य भारत में मौजूद थीं।

लगभग डेढ़ सदी की औपनिवेशिक गुलामी ने राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के विचारों से प्रेरित एक नये भारतीय साहित्य के विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया को मंद कर दिया।

फिर भी मध्यवर्ती और उत्तरी भारत पर एक नए युग के उषाकाल के उदय का समय अंततः आ गया और इसकी किरणों में सिंधु और गंगा के मैदान को

अपनी किरणों से आलोकित कर दिया। एक नए युग का सूत्रपात हो गया था जिसने दिल्ली, लखनऊ और लाहौर के मध्यकालीन दरबारों को अस्थिर कर दिया और बनारस तथा इलाहाबाद की तंग गलियों का सन्नाटा तोड़ दिया। एक नए जीवन का घोष स्पष्ट और प्रबल रूप में गूंजने लगा और लोगों को उनकी निद्रा से जगाने लगा। असली जीवन से जुड़े साहित्य का जन्म हो गया।

हिंदी साहित्य में प्रबोध का काल उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू होता है जिसमें शिव प्रसाद (1829-1895) और लक्ष्मणसिंह (1826-1862) ने प्रबोध और शिक्षा के क्षेत्र में और भारतेन्दु हरिश्चंद्र (1850-1885) ने साहित्य के क्षेत्र में आरम्भ किया।

यद्यपि कुल मिलाकर हिंदी साहित्य की प्रबोध वाली विशेषताएं वही हैं जो बंगला साहित्य में हैं पर इसकी कुछ अपनी विशेषताएं भी हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि न तो आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती जैसा धार्मिक और सामाजिक सुधारक, जिन्होंने स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार के लिए एक आंदोलन छेड़ा था, उनकी स्थिति सुधार सका और उत्पीड़ित जनसमूह तथा सबसे नीची जातों का रहन-सहन का स्तर ऊंचा कर सका और न भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके अनुयायियों जैसे लेखक, जिन्होंने हिंदी साहित्य में प्रगतिशील विचार प्रकट किये, धार्मिक भावनाओं से मुक्त थे। अपनी जन्मभूमि की उन्नति की कामना करते हुए वे अपनी बात अधिकतर हिंदुओं को ही संबोधित करते थे, सारी भारतीय जनता को नहीं; उधर सैयद अहमद खां, मौलाना अलताफ हुसैन हाली और अन्य मुस्लिम सुधारक और प्रबोधक अधिकतर मुसलमानों को ही अपनी बात संबोधित करते थे; इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदुस्तानी जनता का साहित्य जिसकी राष्ट्रीय साहित्यिक अभिव्यक्ति हिन्दी और उर्दू इन दो रूपों में हुई है, अक्सर एक साम्प्रदायिक रंग ले लेती थी।

बहुत से हिंदी और उर्दू लेखकों की रचनाएं संकीर्ण धार्मिक विचारों से प्रभावित थीं जिससे उनका मानसिक क्षितिज संकुचित हो जाता था और जीवन विषयक उनके विचार एक रहस्यात्मक धुंधलके में लिपट जाते थे।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के सक्रिय समर्थन से प्रतिक्रियावादी शक्तियां अक्सर हिंदी और उर्दू साहित्य का उपयोग हिंदु-मुस्लिम वैमनस्य भड़काने में करती थी यद्यपि प्रबोध-काल के प्रमुख लोग हिंदी और उर्दू साहित्य का उपयोग सारी हिंदुस्तानी जनता को एक राष्ट्रीय मुख्यधारा का अंग बनाने में करते थे।

प्रबोधकाल के हिंदी साहित्य की एक और विशेषता यह है कि इस साहित्य की गद्यरचनाएं खड़ी बोली में लिखी गयीं, जो 14वीं सदी से उर्दू का आधार थीं जबकि मध्यकालीन हिंदी कविता हिंदी की साहित्यिक विभाषा—ब्रजभाषा में

लिखी गयी थी। धीरे-धीरे खड़ी बोली पद्य में भी ब्रज का स्थान लेने लगी। कुछ भारतीय विद्वान इस घटना को उर्दू का प्रभाव मानते हैं। उदाहरण के लिए— मेहताब अली ने लिखा है : 'उर्दू कविता के प्रभाव से हिंदी कवि ब्रज को छोड़ कर खड़ी बोली अपनाने लगे।'

प्रबोध के साहित्य के विकास की एक विशेषता यह थी कि भारत में अंग्रेजों द्वारा लायी गयी हर चीज में दिलचस्पी ली जाने लगी और पश्चिमी संस्कृति में जो मूल्यवान अंश था, उसे सृजन के स्तर पर अपनाया जाने लगा और भारतीय जनता का उत्पीड़न करने वाली और उनके राष्ट्रीय सम्मान को गिराने वाली हर चीज को दृढ़ता से अस्वीकार किया जाने लगा। पश्चिमी वस्तुओं के प्रति भारतीय प्रबुद्ध वर्ग के आकर्षण को मोहभंग से उत्पन्न कटुता ने अधिकाधिक दूर किया। लेकिन यह सोचना ठीक न होगा कि किसी लेखक का ब्रिटिश विजेताओं के प्रति समर्थक या विरोधी रुख यह फैसला करने की एकमात्र कसौटी हो सकता है कि कोई लेखक प्रगतिशील था या प्रतिक्रियावादी। बहुत से देश भक्त भारतीय लेखक जो अपने देश के सच्चे मन से हितचिंतक थे और जो मध्यकालीन अज्ञान तथा धार्मिक मतांधता के विरोधी थे, अंग्रेजों को आधुनिक सभ्यता से संपर्क का एकमात्र साधन मानते थे। इसलिए हम इन 19वीं सदी के लेखकों पर आज के मानदंडों से राय नहीं बना सकते। उन्हें उस समय भारत में वर्ग बलों के वास्तविक समूहन की बहुत ही अस्पष्ट धारणा थी, उनके पास कोई स्पष्ट वैचारिक दृष्टि-कोण नहीं था और वे सामाजिक विकास के परिप्रेक्ष को नहीं समझते थे। उदाहरण के लिए, उर्दू के प्रबोध साहित्य के जन्मदाता सैयद अहमद ख़ां के महान राष्ट्रीय विद्रोह के समय अंग्रेजों से हमदर्दी रखते थे और उस विद्रोह को मध्य-कालीन व्यवस्था फिर से स्थापित करने का प्रयत्न मानते थे। एक ओर तो प्रबोधकाल के हिंदी साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) ने मुकरियां लिख ब्रिटिश लोगों की पोल खोली और उन पर व्यंग कसा, और दूसरी ओर ब्रिटिश शासन की स्थापना के स्वागत में कविताएं लिखीं जो उनका विचार था कि भारतीय जनता को अंधकार और अज्ञान से बाहर निकाल लाएगा।

विदेशों में बुर्जुआ विद्वानों में एक कथन बहुत प्रचलित है कि इस बात का श्रेय ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के 'प्रबोध प्रचारक संकल्प' को ही देना होगा कि भारतीय जनता का नया साहित्य अस्तित्व में आया और विकसित हुआ। कुछ विद्वान भी इस धारणा से सहमत हैं और वे कभी-कभी भारतीय साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल को ब्रिटिश काल कहा करते हैं।

पश्चिमी योरप के प्रभाव को बढ़ा-चढ़ा कर देखते हुए और भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं से आंख मूंदते हुए कुछ बुर्जुआ विद्वानों ने 'पश्चिमी प्रभाव'

शब्दों का प्रयोग करके पश्चिम के और भारत के साहित्यों की कुछ सर्वथा भिन्न प्रक्रियाओं और घटनाओं को गलत तरीके से जोड़ दिया।

भारत के आधुनिक साहित्य का जन्म राष्ट्रीय और सामाजिक मुक्ति के संघर्ष के दिनों एक राष्ट्रीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप हुआ। सब राष्ट्रीय साहित्यों की तरह भारत का साहित्य भी अन्य जातियों के साहित्यों से प्रभावित हुआ; किसी-किसी दौर में यह बाहर से प्रभावित हुआ और फिर इसने अनेक देशों के अनेक लेखकों को प्रभावित भी किया।

अंग्रेज़ों की भारत पर विजय, उपनिवेशवादियों द्वारा जबर्दस्ती अंग्रेज़ी भाषा थोपने और धीरे-धीरे योरपीय पद्धति से शिक्षित एक बुद्धिजीवी वर्ग के उदय, जो भारत के लिए नयी बात थी, का परिणाम यह हुआ कि भारतीय साहित्य पर 19वीं सदी के मध्य भाग से पश्चिमी योरप, विशेष रूप से इंग्लिश, का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत और अन्य देशों के बीच संबंध बनने से और योरपीय संस्कृति के साथ संपर्क होने से नए भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। लेकिन उस समय भी योरपीय संस्कृति का परस्पर-विरोधी मूल्यांकन और उसके प्रति विरोधी रुख, और साथ ही पश्चिमी साहित्य के प्रभाव का दोहरा स्वरूप लक्ष्य किए जा सकते थे।

प्रगतिशील वलों ने सामाजिक प्रगति करने के लिए, घिसे-पिटे सामाजिक संबंधों और सामंतवादी विचारों और धारणाओं के विरुद्ध संघर्ष करते हुए तब भी योरपीय संस्कृति से केवल वह चीज ग्रहण करने की कोशिश की जो स्वस्थ और प्रगतिशील थी।

यह बात उल्लेखनीय है कि अन्य देशों की उत्तम साहित्यिक परंपराओं को सृजनात्मक रीति से आत्मसात करने का प्रयत्न करने के साथ-साथ, विपरीत प्रवृत्ति—हर विदेशी वस्तु के प्रति तीव्र विरोध का रुख—भी भारत में मौजूद था। भारतीय समाज के रूढ़िवादी क्षेत्रों ने विदेशी प्रभावों को भारतीय साहित्य के लिए 'विनाशकारी' बताकर भारतीय लेखकों का दृष्टिकोण विस्तृत करने के सब प्रयत्नों का जमकर विरोध किया।

पश्चिमी प्रभाव के प्रवेश के प्रति विरोधी रुख मध्य और उत्तर पश्चिमी भारत के मुसलमानों में सबसे अधिक व्यापक था जिनकी मातृभाषा उर्दू थी। जैसाकि जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, मोटे तौर से मुसलमानों पर यह पश्चिमी प्रभाव नहीं पड़ा और वे जानबूझकर प्रबोध आंदोलन से बच रहे। आपने यह भी बताया है कि मुसलमानो के मुकाबले व्यापार-व्यवसाय में लगे हिंदुओं की संख्या अधिक थी जो बुर्जुआ वर्ग में थे. और ये लोग अंग्रेजी प्रभाव में अधिक आसानी से आ सकते थे और अंग्रेजों के संपर्क में आने के लिए अधिक इच्छुक थे।

18वीं और 19वीं सदियों में मुगल शासन के ह्रास से दरबारों में पली

संस्कृति का क्षय हो गया और उर्दू कविता में यथार्थ जीवन से दूर बाह्य रूप प्रधान धार्मिक-रहस्यवादी प्रवृत्तियां और अधिक पुष्ट हो गईं। बहुत से उर्दू लेखकों ने यह अनुभव कर लिया था कि पुरानी पद्धति का कोई भविष्य नहीं है और नई पद्धति आने वाली है पर वे अपनी रचनाओं पर आंख मूंदकर पुरानी लकीर ही पीटते रहे। जड़ता ने उन्हें नहीं बदलने दिया। जो धार्मिक और काव्य संबंधी सिद्धांत उन पर हावी थे, वे अजेय मालूम होते थे।

इसलिए उर्दू साहित्य को अपनी जड़ता से मुक्त करने, प्रबोध की उस मूल-धारा में लाने के लिए जिसमें देश के अन्य साहित्य आ गए थे बड़े प्रयत्न की आवश्यकता थी। इसके लिए मार्ग प्रशस्त किया प्रसिद्ध समाज-सुधारक और शिक्षाविद सैयद अहमद खां (1817-98) ने जिन्हें हम मुसलमानों का राममोहन राय कह सकते हैं। उन्होंने 1873 में अलीगढ़ में जिस ऐंग्लो-ओरियंटल कालेज की स्थापना की थी वह शीघ्र ही उर्दू साहित्य के अध्ययन और प्रचार का केंद्र बन गया। उर्दू में प्रबोध साहित्य के अधिकतर लिखने वाले इसी कालेज में पढ़ कर गए थे।

लेकिन उर्दू साहित्य का प्रबोधकाल वास्तव में साहित्याकाश में अलताफ हुसैन हाली (1837-1914) के उदय से आरंभ होता है जिसने उर्दू साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात कर दिया। उसने इस्लामी समाज के नैतिक और सामाजिक आधारों की तीखी आलोचना की और सामंतवाद की जंजीरों से मुक्ति का नारा लगाया।

यादगारे-ग़ालिब में सबसे पहले हाली ने ही अपने उस्ताद मिर्ज़ा गालिब को इस बात के लिए श्रद्धांजलि अर्पित की कि उन्होंने एक नये साहित्य के विकास के लिए, उर्दू साहित्य में एक नया मानवतावादी अंश भरने के लिए बड़ा भारी काम किया था।

गालिब का जीवन और लेखन उस समय हुआ जब उर्दू साहित्य अभी नवीकरण के युग में प्रविष्ट नहीं हुआ था, जब प्रबोध का आंदोलन, जो बंगाल, महाराष्ट्र और मद्रास में ज़ोर पकड़ चुका था और वहां के लोगों के साहित्य में प्रतिबिंबित हो रहा था। अभी उर्दू साहित्य को स्पर्श न कर पाया था। पर गालिब अपने समय से आगे थे। उन्होंने उर्दू शायरी की भावसामग्री को विस्तृत किया। उनकी रचनाओं से कलात्मक सामान्यकरण परिष्कृत पद्यबंध के स्थान पर अधिकाधिक दृढ़ता से आते गये। मानवतावाद गालिब की शायरी में एक नये रूप में आया। सामंतशाही में पिसते हुए आदमी की व्यथा-कथा उनकी रचनाओं में अधिक तीखे रूप में उभरी और उसने रहस्यवाद के पर्दे को चीर दिया; उन्होंने इस विचार की घोषणा की कि मनुष्य सबसे निर्दोष सृष्टि है, कि मानव खुदा से भी ऊँचा है। गालिब का मानवतावाद अपने धर्म के लोगों के लिए हमदर्दी तक ही सीमित

न रहा जैसाकि 18वीं सदी के तथा 19वीं सदी के आरंभ के उर्दू के कई कवियों की रचना में प्रकट की गयी थी। एहतिशाम हुसैन ने लिखा है कि वे मानव प्रेम को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। उनके लिए सत्य का मार्ग खोज रहे और अपने विश्वासों पर दृढ़ता से चल रहे सब मानव बराबर थे।

गालिब ने मानव की भीतरी दुनिया की गहरी तसवीर पेश करने में, उसके भावावेशों और भावों का सही-सही वर्णन करने में अद्भुत निपुणता प्राप्त कर ली थी। उन्होंने अपने निराले तरीके से मुक्ति के लिए व्याकुल मानव और धार्मिक कट्टरपंथी विचारधारा तथा मध्यकालीन अंधविश्वास पर आधारित समाज के बीच के संघर्ष को चित्रित किया। गालिब की शायरी का यह मानवतावादी अंश उसके शिष्य और अनुयायी हाली की रचनाओं में और अधिक स्पष्ट होकर उभरा है।

गालिब की महानता का एक कारण यह भी है कि वह अपने सब समकालीनों से अधिक दूरदर्शी था। सबसे पहले उसने ही यह अनुभव किया कि सामंतवादी संस्कृति का विनाश निश्चित है। नये युग का उदय पहचाना, एक नये काल का अर्थ समझा। बहुत से भारतीय विद्वानों ने यह ठीक ही लिखा है कि 19वीं सदी के तीसरे दशक में गालिब के कलकत्ता रहने से उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय के कलकत्ता के सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन की नयी प्रवृत्तियों के बोध ने उन्हें अपनी रचना में बहुत-सी समस्याओं पर अधिक गहराई से विचार करने के लिए प्रेरित किया; उनके यथार्थताबोध को तीव्र किया और उनकी कविता को एक नयी जीवन-शक्ति प्रदान की।

गालिब की शायरी में प्रबोध के वे विचार सीधे शब्दों में नहीं आये हैं जो 19वीं सदी के पिछले हिस्से में जाकर ही उर्दू साहित्य का हिस्से बने, मध्य भारत के मुस्लिम समाज में, जिसके साथ गालिब का घनिष्ठ संबंध था, अवस्थाएं अब भी इस परिवर्तन के लिए परिपक्व नहीं हुई थीं। परंतु कुछ तथ्य यह प्रकट करते हैं कि भारत के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों पर कवि प्रसन्न था जिनसे बाद में नये साहित्य का जन्म हुआ। इस दृष्टि से वह उर्दू साहित्य के प्रबोध आंदोलन के प्रवर्तक सैयद अहमद खां से भी आगे थे।

गालिब कविता और विश्व दृष्टि उर्दू साहित्य के मार्गदर्शक थे। उन्होंने उर्दू साहित्य के क्षितिज का विस्तार किया और सामंती संस्कृति तथा मुल्लाओं के धार्मिक दर्शन से इसका संबंध विच्छेद कराया, इसमें एक नये मानवतावादी अंश का प्रवेश कराया, भारतीय साहित्य की मुख्य धारा में उर्दू साहित्य को लाने के लिए पृष्ठभूमि तैयार की और उर्दू साहित्य में प्रगतिशील लोकतंत्रीय तत्त्वों के विकास के लिए आधारभूमि बनायी। हमारे विचार में, गालिब जैसे अद्भुत

मानवतावादी कवि की महानता इसी बात में है। इसी कारण आज भी उसकी कविता इतनी सजीव है जबकि उसकी मृत्यु को सौ साल से अधिक हो चुके हैं। गालिब की कविता का महत्त्व उर्दू साहित्य की सीमाओं से बहुत दूर तक फैला हुआ है। यह सारी भारतीय जनता की विरासत है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सोवियत संघ

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्मशती मई, 1961 में सारे संसार में मनायी गयी थी। साहित्य अकादमी ने नई दिल्ली में जो अंतर्राष्ट्रीय साहित्य गोष्ठी आयोजित की थी, उसमें प्रसिद्ध सोवियत लेखक व्सेवोलोद आइवानोव ने हिस्सा लिया था; उपराष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विज्ञान भवन में उसकी गंभीरतापूर्ण बैठकें हुई थीं; प्रतिनिधि पहले कलकत्ता और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय शांति निकेतन गए थे; भारतभूमि पर रवीन्द्रनाथ के अनेक मित्रों, सहयोगियों और शिष्यों से भेंट हुई थी—ये सारी बातें आज भी हमारी स्मृति में ताजा हैं। और फिर वे दिन जब रवीन्द्रनाथ सोवियत संघ आये थे। बोलशोई थियेटर के बाहर की दीवार पर भारत के इस महान पुत्र का चित्र, हाल में भारी भीड़, एन० तिखोनेव द्वारा शानदार अभिनन्दन, अन्य भाषण; सोवियत कलाकारों और संगीतकारों की गोष्ठी। अनेक सम्मेलनों और बैठकों में सोवियत विद्वानों, अनुवादकों और कवियों ने सोवियत संघ में रवीन्द्रनाथ की कृतियों के अध्ययन और प्रसार के सृजनात्मक विवरण पेश किये थे और रवीन्द्र अध्ययन के क्षेत्र में और अधिक कार्य करने की योजनाओं पर विचार-विनिमय किया था। 1960 से आगे के कुछ वर्षों में सोवियत संघ में रवीन्द्रनाथ की रचनाओं का एक नया संस्करण रूसी भाषा में, बारह जिल्दों में प्रकाशित हुआ था। उनकी अन्य बहुत सी रचनाएं सोवियत संघ की विभिन्न जातियों की भाषाओं में प्रकाशित हुई थी। कुल मिलाकर, सोवियत काल में सोवियत संघ की जनता की बत्तीस भाषाओं में कुल 5764 कापियों के मुद्रण हुए थे। रवीन्द्र अध्ययन भौगोलिक दृष्टि से भी विस्तृत हुआ। मास्को और लेनिनग्राद के अलावा उनकी रचनाओं का अध्ययन, अनुवाद और प्रकाशन रिगा, ताशकंद, त्बिलिसी, दुशान्बे और अल्माआता में हुआ।

पहले तो हमारे अध्ययनकर्ता रवीन्द्रनाथ की कृतियों पर विस्तारगत अध्ययन किया करते थे और लेखक तथा विचारक की कृतियों के बहुमुखी चित्र और विश्व-दृष्टि की व्याख्या किया करते थे, पर अब वे इन रचनाओं का अध्ययन

भारतीय और विश्व संस्कृति के विकास के व्यापक प्रक्रमों के संदर्भ में करते हैं।

रवीन्द्र जन्म शती समारोह से सारे संसार में रवीन्द्र साहित्य के अध्ययन के विकास में बड़ी प्रेरणा मिली। इसने संसार के बहुत से भागों में अनेक राष्ट्रों का ध्यान इस महान भारतीय की सृजनात्मक विरासत पर केंद्रित कर दिया।

रवीन्द्र साहित्य के अध्ययन की सबसे बड़ी शुरुआत भारत में हुई। अनेक विद्वान अपने देश-बंधु की सृजनात्मक विरासत का अध्ययन करते रहे। रवीन्द्रनाथ पर अधिकाधिक पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं। यहां ऐसी दो पुस्तकों का उल्लेख करना उचित होगा—कृष्ण कृपलानी की पुस्तिका 'रवीन्द्रनाथ टैगोर : ए ब्रायोग्राफ़ी' (1962) और सुनीतिकुमार चटर्जी की 'वर्ल्ड लिटरेचर एंड टैगोर' (1971)। इन दोनों तलस्पर्शी अध्ययनों की खास विशेषता यह है कि इनमें लेखक की कृतियों का विश्व साहित्यिक प्रक्रम के साथ अभिन्न संबंध जांचने-परखने और इस प्रकार न केवल भारतीय संस्कृति बल्कि सारी मानवजाति की संस्कृति के विकास में उसका स्थान निर्धारित करने की प्रवृत्ति रही है। जो सामग्री उसमें विचार के अधीन लायी गयी है उसकी दृष्टि से और अपनायी गयी विधि तथा अध्ययन, सैद्धांतिक निष्कर्षों और सामान्य करणों की दृष्टि से ये दोनों रचनाएं रवीन्द्र संबंधी विश्व अध्ययन के रत्न हैं।

लेकिन कभी-कभी, इस दिन तक, रवीन्द्रनाथ के विकृत चित्र पेश करने के यत्न किए गए हैं—कभी तो उन्हें जीवन से विच्छिन्न पैगंबर बताकर या रहस्यवादियों में रखकर, कभी फ्रायड मनोविश्लेषण से जोड़कर या बर्गसों के विचारों से संबंधित करके, इत्यादि। इस दृष्टि से रवीन्द्रनाथ के साथ वही हुआ है जो टालस्टाय और दास्ताएवस्की के साथ। बुर्जुआ क्षेत्र कभी-कभी उनकी एक तरफा तस्वीर पेश करने और उनकी साहित्यसृष्टि के वैचारिक और कलात्मक तत्त्व को निरूपित करने की कोशिश करता है। अनेक देशों में रवीन्द्रनाथ को अपना हमख़याल बनाने के लिए प्रतिक्रियावादियों द्वारा किए गए ऐसे द्वेषपूर्ण और कल्पनात्मक प्रयास सर्वथा निराधार हैं। यह सर्वविदित है कि यह महान भारतीय लेखक पुरानी घिसी-पिटी जीर्ण-शीर्ण परंपराओं के अंधानुकरण का भी उतना ही प्रबल विरोधी था जितना कि आधुनिक, ह्रासोन्मुख, बदनाम बुर्जुआ संस्कृति का।

उनके देशवासी अक्सर उन्हें आधुनिक भारत के निर्माताओं में गिनते हैं। 'रवीन्द्रनाथ ने भारत की यह महान सेवा की'। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं, कि 'उन्होंने लोगों को कुछ अंश में विचारों के संकीर्ण खांचों से बाहर निकाला और मानव जाति पर प्रभाव डालने वाले व्यापक प्रश्नों पर सोचने को मजबूर किया। रवीन्द्रनाथ भारत के एक महान मानववादी थे।'

आज भारतवासी भारत में एक नये जीवन का निर्माण करने के लिए जो

कुछ कर रहे हैं, उसका बहुत-सा विचार और कल्पना रवीन्द्रनाथ की ही थी। उन्होंने यह अनुरोध किया था कि भारत की सब जातियों में, धर्म भाषा और प्रजाति के भेदभाव त्याग कर एकता और संगठन होना चाहिए क्योंकि उन्हें इसमें देश की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण आधार दिखाई देता था।

रवीन्द्रनाथ की जापान, इंडोनेशिया, सोवियत संघ, हंगरी, और अन्य बहुत से देशों की यात्राओं, उनके सार्वजनिक भाषणों, डायरियों, और यात्रा वृत्तांतों ने अन्य देशों के लोगों को भारतीय जनता की संस्कृति के बहुत से पहलुओं की अधिक अच्छी जानकारी और अधिक सही समझ-बूझ तथा उचित मूल्यांकन प्राप्त करने में मदद दी है। दूसरी ओर, उन्होंने अपने देशवासियों के सामने वे बातें रखीं जो उपनिवेशवादियों द्वारा औपनिवेशिक भारत और बाहरी जगत के बीच खड़ी ऊंची-ऊंची दीवारों के पीछे छिपी हुई थीं।

अपनी रचनाओं के द्वारा रवीन्द्रनाथ ने भारत के अतीत और वर्तमान के बीच मिथक और यथार्थ के बीच तथा पूर्व और पश्चिम के बीच एक सेतु का निर्माण कर दिया प्रतीत होता था। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति, कला और दर्शन को एक नया आधुनिक अंश प्रदान किया और इन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति तथा राष्ट्रीय मुक्ति के लिए भारतीय जनता द्वारा किए जा रहे संघर्ष की अविलंब साध्य आवश्यकताओं के लिए अनुकूल बनाया। रवीन्द्रनाथ का विचार था कि सब राष्ट्रों के साथ मित्रता और सहयोग की शांतिपूर्ण स्वतंत्र नीति ही भारत की प्रगति और विकास का स्थायी आधार बन सकती है।

रवीन्द्रनाथ की देन इतनी ही नहीं है कि वे भारतीय लेखकों में प्रथम व्यक्ति थे जो भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं को विश्व संस्कृति की सर्वोत्तम परंपराओं के साथ मिलाकर एक जटिल परिवर्तित एकता का रूप दे सके। उन्होंने साम्राज्यवाद का भी निर्ममता से पर्दाफाश किया और इस मानव-विरोधी सार को अपने देशवासियों के सामने प्रकट किया था। रवीन्द्रनाथ इस पक्ष में थे कि भारतीय जनता सारी प्रगतिशील मानवजाति के साथ मिलकर एक संयुक्त साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे का निर्माण करे। उन्हें उनके कार्यों के आधार पर अफ्रीकी एशियाई एकता के आंदोलन का प्रवर्तक माना जा सकता है।

'पश्चिमी सभ्यता' को जो उनके लिए पूंजीवाद का समानार्थक थी और जिसे वे एक सामाजिक बुराई मानते थे, ठुकराते हुए रवीन्द्रनाथ ने कभी भी अलग-थलग रहने का या पश्चिम के मुकाबले पर पूर्व को खड़ा करने का समर्थन नहीं किया। अपने सारे जीवन रवीन्द्रनाथ पूर्व और पश्चिम को निकट लाने के लिए संघर्ष करते रहे और उन्होंने योरुप तथा एशिया के राष्ट्रों की संस्कृतियों की पारस्परिक क्रिया के लिए आग्रह किया। भारत का कोई भी व्यक्ति इस बात

का रवीन्द्रनाथ जितना आग्रही नहीं हुआ कि भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति की सर्वोत्तम उपलब्धियों से समृद्ध बनाया जाए और इसे सार्वभौम सांस्कृतिक प्रक्रिया के अंतर्गत लाया जाए। इस काम में उन्हें बहुत से देशों की संस्कृतियों के प्रगतिशील नेताओं का समर्थन प्राप्त हुआ। उदाहरण के लिए, बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा : 'भारत के लिए क्या किया गया है, इस बारे में मेरा कुछ कहना ठीक न होगा, पर पूर्वाग्रहों की पकड़ ढीली करने और गलत धारणाएं हटाने की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ ने योरोप और अमरीका के लिए जो कुछ किया है, उसके बारे में मैं कुछ बता सकता हूं और मैं जानता हूं कि इसके कारण वे उच्चतम सम्मान के पात्र हैं।'

खासतौर से रवीन्द्रनाथ की वह अपील बड़ी महत्त्वपूर्ण है जो उन्होंने 1930 से आरंभ दशक में पूर्व और पश्चिम को एक-दूसरे के निकट लाने और सारी मानव जाति की एकता तथा बहुत कुछ एक जैसा विकास करने के लिए की थी। इस समय उन्होंने और भी दृढ़ता से कहा था कि पश्चिम ने पूर्व को विद्रोह ही नहीं, गुलामी भी दी है। 1935 में, ब्रिटिश मानववादी गिलबर्ट मरे को, जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के बुद्धिजीवियों के बीच सहयोग बढ़ाने की अपील की थी, लिखे एक खुले पत्र में रवीन्द्रनाथ ने इस विचार को अपना पूर्ण समर्थन देने की बात कही है पर साथ ही यह चेतावनी भी दी है कि पश्चिम पूर्व को न केवल विज्ञान और संस्कृति की प्रगति देगा बल्कि दमन भी लाएगा।

बहुत से भारतीय लेखक 1930 से आरंभ दशक में रवीन्द्रनाथ के विचारों में क्रम विकास की बात कहते हैं जिन्हें हम सार्वभौम साहित्यिक प्रक्रम के एक नियम की अभिव्यक्ति मानते हैं। 'विकास की आम रीति के विपरीत, वे जैसे-जैसे अधिक वयोवृद्ध होते गए, वैसे-वैसे उनका दृष्टिकोण और विचार अधिक उग्र होते गए' यह विचार जवाहरलाल नेहरू ने उनके बारे में प्रकट किया है।

रवीन्द्रनाथ ने पश्चिमी सभ्यता, या दूसरे शब्दों में, पूंजीवादी दुविधा का उस नयी सभ्यता से वैषम्य दिखाया है जो उन्होंने 1930 में सोवियत संघ में देखी थी। चौथे दशक के भारतीय साहित्य की किसी भी कृति की भूमिका भारतीय समुदाय में समाजवाद के विचारों का प्रसार करने में इतनी अहम् नहीं रही जितनी रवीन्द्रनाथ की 'रूस की चिट्ठी' (1931) जो देश के साहित्यिक जीवन में प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के विकास में इतनी महत्त्वपूर्ण रचना बन गयी। रवीन्द्रनाथ की रूस की चिट्ठी सचमुच एक उत्कृष्ट कृति है, यह बात संस्कृति के क्षेत्र के प्रसिद्ध भारतीय धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी ने बंगाली पत्रिका 'परिचय' अगस्त 1931 के अंक में लिखी थी। "यहां एक प्रश्न पैदा होता है, क्या भारत में कम्यूनिज्म संभव है ?...यह पुस्तक पढ़ते हुए मैं अपने आपसे पूछता हूं, क्या हमारे देश में कभी ऐसा समय आएगा ?"

यह अद्भुत प्रचार-रचना सितंबर 1930 में रवीन्द्रनाथ की सोवियत यात्रा के बाद लिखी गयी थी। भारतीय लेखक ने हमारे देश में सोवियत राज्य को पुष्ट करने के लिए चल रहे संघर्ष के कठिन वर्षों में जो कुछ देखा था उससे उसे वड़ा विस्मय और विचार मंथन हुआ था। यहां यह देख कर मुझे बड़ी खुशी हुई है कि पहली बार आपने सारी जनता को शिक्षा के अवसर दिए हैं, उनके लिए स्कूलों, रंगमंचों और संग्रहालयों के द्वार खोल दिए हैं, उन्होंने लिखा था 'मेरा स्वप्न है एक ऐसे स्वतंत्र मनुष्य का निर्माण जो मजदूर से संबंधित हो। आज की सभ्यता रोग और असामान्यताओं से कष्ट पा रही है। इसका इलाज होना चाहिए।

रोम्यां रोलां और पश्चिम के अन्य लेखकों की तरह रवीन्द्रनाथ भी अपने आस-पास की यथार्थता को बदलने के अपने प्रयासों की व्यर्थता का निश्चय कर चुके थे। "मुझे निश्चय हो गया है कि आपका विचार मेरे सपने के बहुत निकट हैं, मास्को में उन्होंने कहा था। सृजनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण करने में आप जो कुछ कर रहे हैं वह मैं अकेला नहीं कर सकता। यही आपकी मानव जाति के लिए अमर सेवा है।" सोवियत जनता के जीवन में उन्होंने उनके आदर्शों की पूर्ति, मानव व्यक्तित्व की मुक्ति के बारे में उनके स्वप्नों का मूर्त रूप देखा। उन्होंने सोवियत संघ में आंधी की तरह बढ़ रहे जीवन का वैषम्य उनके अपने देश में व्याप्त औपनिवेशिक गुलामी के दमघोटू वातावरण से दिखाया है।

इस तथ्य के बावजूद कि यह भारतीय लेखक मार्क्सवाद से बहुत दूर था, उसने एक महान कलाकार की तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि से सोवियत समाज के जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रवेश कर लिया, और अक्तूबर की समाजवादी क्रांति के विचारों की भव्यता और फलप्रदता का मूल्यांकन कर लिया। उन्होंने अक्तूबर क्रांति का अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व बताया और कहा कि "यह संसार सब भागों की उत्पीड़ित जनता के मुक्ति संघर्षों की शक्ति बढ़ाने में प्रेरणा का काम करेगी।···दो पक्षों के बीच की यह अत्यधिक विषमता रूस में ही एक आमूल सुधरी···रूसी क्रांति की क्रांतिकारी प्रेरणा सार्वभौम है। आज की दुनिया में कम से कम इस देश के लोग अपने हित की बात सोच रहे हैं।"

अपने पत्रों में रवीन्द्रनाथ ने सोवियत समाज की महान नैतिक और राजनीतिक एकता की चर्चा की है। जिन देशों में धन और शक्ति की प्राप्ति व्यष्टि के स्वार्थ से प्रेरित होती है, वहां मन की इतनी घनिष्ठ एकता संभव नहीं है, सोवियत संघ में वे एक असाधारण अस्तित्व को जन्म दे रहे हैं और वह है सांझा काम, सांझा मन और सांझी संपत्ति"···

अक्तूबर क्रांति से उत्पन्न नये मानव की अनेक विशेषताएं रवीन्द्रनाथ को दिखायी दीं—'अपने श्रम पर जीना जिसमें अपना ही एक सम्मान बोध हो,

अपरिमित आत्मिक शक्ति, ऐसा आदमी जो अपने लोगों के साथ रहने के लिए विषमता का बोझा फेंककर अपना सिर उठाता है वह असाधारण साहसी और आंतरिक स्वतंत्रता का हामी बन जाता है।'

अपनी सोवियत यात्रा के फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ में बहुत से विचार पैदा हुए और वे उनकी 'चिट्ठी' में प्रकट हुए और चौथे दशक के अंतिम वर्षों में उनके तीखे, सामयिक और प्रतिभापूर्ण लेखों में उनका और अधिक विकास दिखायी दिया। उनके साहसपूर्ण फासिस्ट-विरोधी भाषण, जिनमें साम्राज्यवादी ताकतों के अनिवार्य विनाश युद्ध और प्रथमाक्रमण और सद्बुद्धि की शक्तियों की विजय, शांति और लोकतंत्र का पूर्वानुमान कर लिया गया था, सारे संसार में गूंजने लगे।

रवीन्द्रनाथ का अंतिम लेख 'सभ्यता का संकट', जो उनकी मृत्यु से कुछ महीने पहले उनके अस्सीवें जन्मदिन पर मई 1941 में लिखा गया था, पैनी आध्यात्मिक खोज पर उपदेश, एक राजनीतिक वसीयतनामा मालूम होता है जिसमें वे सारी पूंजीवादी व्यवस्था पर अंतिम फैसला दे देते हैं और 'अवज्ञापूर्ण पश्चिमी सभ्यता' से अपने संबंध विच्छेद की दृढ़ता से घोषणा कर देते हैं।

रोलां के लेख 'अतीत को अंतिम नमस्कार' की तरह रवीन्द्रनाथ का लेख 'सभ्यता का संकट' आशावाद की भावना से ओत-प्रोत है और उसमें 'नयी सभ्यता' की विजय की अनिवार्यता में और मानव-जाति के इतिहास में एक नये युग के अरुणोदय में आस्था में प्रकट की गयी है।

उन्होंने उस सभ्यता का जिसने मानव जाति को हिंसा और बल की मदद से स्थापित कानून-आश्रित ढांचे के दिखाने के अलावा कुछ भी नहीं दिया है, रूस में अपनी देखी हुई नयी सभ्यता से वैषम्य दिखाया है। "रूस की सभ्यता एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच, एक पंथ दूसरे और पंथ के बीच अहितकर भेदभाव से मुक्त है···सोवियत प्रशासन का एक विशेष पहलू जिसने मुझे खास प्रभावित किया, यह था कि उसमें भद्दे धार्मिक मतभेदों में संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं है और न वह एक समुदाय को अनुचित सहूलियतें देकर दूसरे समुदाय के खिलाफ खड़ा करता है। मैं उस प्रशासन को समुचित सभ्य प्रशासन समझता हूं जो जनता के सांझे हितों के लिए निष्पक्ष होकर कार्य करता है।"

लेखक का दृढ़ विश्वास है कि भविष्य इस नयी सभ्यता का ही है।

उन्होंने संसार के प्रथम समाजवादी देश के बारे में सच्चाई का भारत में प्रसार करके और भारत तथा सोवियत संघ के लोगों के बीच मित्रता और आपसी समझ-बूझ पैदा करके बड़ी भारी सेवा की।

रवीन्द्रनाथ अपने जीवन के अंतिम समय तक सोवियत जनता के बड़े और सच्चे मित्र रहे। रोगशैया पर रहते हुए भी लेखक ने फासिस्ट आक्रांताओं के

विरुद्ध सोवियत जनता के महान मुक्ति युद्ध के लिए बड़ी सहानुभूति और हमदर्दी प्रदर्शित की।

कुछ आधुनिक हिंदी लेखक प्रगतिवादी मंचों से बोलते हुए कभी-कभी अपनी निजी भीतरी, पूरी तरह राष्ट्रगत समस्याओं का तालमेल अंतर्राष्ट्रीय कार्यों के साथ नहीं बिठा पाते जिनमें शांति, लोकतंत्र और प्रगति के लिए पूर्व और पश्चिम के लेखकों का एक संयुक्त मोर्चा बनाना तथा साम्राज्यवाद से लोहा लेना शामिल है। इस काम में रवीन्द्रनाथ ने उन्हें सही राह दिखायी। उनके लिए मध्यकाल के बचे-खुचे अवशेषों के खिलाफ भारत में उपनिवेशवादियों के उत्पीड़न और धींगामुश्ती के खिलाफ संघर्ष संसार के सब भागों में युद्ध और साम्राज्यवादी ताकतों के आक्रमण के विरुद्ध हो रहे संघर्ष से अलग नहीं था। धार्मिक मतांधता और उपनिवेशवादियों के अत्याचारों का पर्दाफाश करते हुए, अपनी जनता की गरीबी और अधिकार-शून्यता का वर्णन करते हुए सारे संसार में हो रहे आक्रमण का भी क्रोध के साथ पर्दाफाश किया।

आज रवीन्द्रनाथ की विरासत से यह निश्चय करने में मदद मिलती है कि साहित्य में कौन-सा अंश सचमुच राष्ट्रीय है और कौन-सा अंश प्रकाश, सुख और नए जीवन के लिए तरस रहे करोड़ों साधारण लोगों के हितों के अनुकूल है। उस समय भारत में बहुत से लोगों के लिए राष्ट्रीय भावना का अर्थ था पुरातन पर लौटना, साहित्य और कलाकृतियों में प्राचीन भारत के विषयों और कला सृष्टि के सिद्धांतों को फिर से लाना जिन्हें आधुनिक भारत में अनुकरण योग्य नमूने घोषित किया गया था। रवीन्द्रनाथ और उनके बाद चौथे दशक के अन्य भारतीय प्रगतिवादी लेखकों ने भारतीय जनता की कलात्मक संस्कृति में राष्ट्रीय उद्गम का यह अर्थ लगाने का विरोध किया।

अपने समय के प्रतिक्रियावादी विचारों के विद्वानों और लेखकों के दावों के बावजूद, जो यह मानते थे कि सच्ची कला वही है जो थोड़े से चुनींदा लोगों की समझ में आए, उनका विश्वास था कि कला तभी सार्थक होती है और समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है जब वह आम आदमी की पहुंच के भीतर हो और जीवन के सत्य को प्रतिफलित करे। 1941 में अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले रवीन्द्रनाथ ने नए कवियों के जन्म के बारे में यह स्वप्न देखा था : 'अज्ञात मूक आत्माओं के गायक' जो 'साधारण हल जोतने वाला का जीवन बिताते हैं।' उन्होंने इस पर खेद प्रकट किया था कि उनकी आवाज साधारण जन सब जगह नहीं सुनता और समझता और "यद्यपि मेरी कविताओं का प्रचार दूर-दूर तक हुआ है, पर फिर भी वे सब जगह नहीं गूंजतीं।"

चौथे दशक के भारत में उन्नत काव्य चिंतन के विकास में इस विचार की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है कि साहित्य का जीवन के साथ अटूट संबंध होना

चाहिए और उसे जनता की हित सिद्धि कर सकना चाहिए। तीसरे दशक के शुरू में ही वे लिख चुके थे : "जब कोई लेखक अपने काम के सिलसिले में अपना कोई ध्येय नहीं बनाता तब वह जो कुछ लिखता है, उसे भुला दिया जाता है। दूसरी ओर, जब किसी लेखक के विचार किसी सारे राष्ट्र के चिंतन के सूचक होते हैं, जब कोई लेखक अपनी सारी जनता की आकांक्षाएं प्रतिफलित करता है, तब उसकी कृतियों को साहित्य के क्षेत्र में स्थायी स्थान मिलता है।"

रवीन्द्रनाथ कला और जीवन में कोई अलगाव नहीं मानते थे और उनका विश्वास था कि साहित्य में और कला में सौंदर्य जीवन के सौंदर्य का प्रतिफलन और अभिव्यक्त होता है, और आस-पास के यथार्थ का प्राकृतिक गुण होता है। 'अगर सौंदर्य मनुष्य को यथार्थ जगत् से अलग कर दे और उसे कल्पना के माया-जगत् में पहुंचा दे,' उन्होंने 1908 में लिखा था; 'यदि अमूर्त सौंदर्य की खोज के नाम पर जनता के लिए उपयोगी हर चीज को बेकार कहकर नकार दिया जाए तो ऐसे सौंदर्य की निंदा होनी चाहिए।'

उन्हें जीवन अपने सब बहुमुखी रूपों में सुंदर लगता है और वे इसकी सारी विविधता से कोई पृथक् पहलू नहीं जिन्हें वे सुंदर कहें और शेष को सौंदर्य की कुछ चिरंतन सार्वभौम कसौटियों पर खरा नहीं उतरने के कारण नकार दें। उनके काव्यास्वाद संबंधी विचारों के अनुसार जीवन का सौंदर्य इसकी पूर्णता और विविधता में निहित है, विषम और परस्पर विरोधी तत्त्वों के तालमेल वाले संयोजन में अवस्थित है।

'क्या हमारा काव्य-बोध हमें संसार के सिर्फ उन तत्त्वों के निकट लाता है और हमें उन तत्त्वों का ही साक्षात्कार कराता है जिन्हें सुंदर समझने की आदत पड़ी हुई है और बाकी को अस्वीकार कर देते हैं?' यह प्रश्न उठाकर आपने यह उत्तर दिया है : 'हमारा काव्य-बोध सारे यथार्थ को अपनी प्रसन्नतापूर्ण पकड़ में लाना चाहता है और इसमें ही उसकी सर्वप्रथम अद्‌भुत सार्थकता है। हर सार्वभौम के महान बहुरंगी चित्र को जितना पूरी तरह देखते हैं, उतना ही गहराई से हमें यह पता चल जाता है, कि अच्छाई और बुराई, हर्ष और विषाद, जीवन और मृत्यु, जो निरंतर प्रवाहमान हैं, अक्षय धुन में बजते रहते हैं, वे मिलकर ही संगीत की सृष्टि करते हैं। जब हम इस संगीत को एक साथ लेकर इसकी जांच करते हैं तब इसका कोई भी स्वर बेसुरा नहीं लगता, कोई भी चीज रूपहीन नहीं लगती।'

उनके काव्यास्वाद-संबंधी विचारों का यह पहलू भारतीय दर्शन की सार्वभौम एकत्व और विश्व समस्वरता की परंपरागत अवधारणा का एक तर्क-संगत सिल-सिला और विकास है, भारतीय दर्शन व्यष्टि और संपूर्ण जगत् के बीच, एक आत्मा और विश्वात्मा के बीच, आत्मा और प्रकृति के बीच, जीव और ब्रह्म के बीच सार्वभौम और चिरंतन समस्वरता को मान्य करता है।

कुछ अध्ययनकर्ता, आधुनिकतावादी दृष्टिकोणों से रवीन्द्रनाथ की रचनाओं का अध्ययन करते हुए कभी-कभी उन्हें अपना साथी बनाने की कोशिश करते हैं और यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि अपने चौथे दशक के साहित्यिक गद्य में भारतीय लेखक में फ्रायड के विचारों की निश्चित रूप से प्रशंसा की थी, जिसका उस समय पश्चिम में फैशन या चलन था।

फ्रायड के विचारों के प्रभाव में सबसे पहले तो वे भारती लेखक आए जिन्होंने सामाजिक-राजनीतिक जीवन से अलगाव रखने की कोशिश की, जिनकी रचनाएं शुद्ध रूप से नैतिक-मनोवैज्ञानिक विषयों के ढांचे तक सीमित रहीं। रवीन्द्रनाथ अपने जमाने के प्रगतिशील विचारों के प्रति सदा अतिसंवेदनशील रहे और बड़ी-बड़ी घटनाओं पर उन्होंने जोश के साथ प्रतिक्रिया की। पश्चिम की बुर्जुआ संस्कृति जिनका चौथे दशक में भारत के साहित्यिक जीवन पर कुछ प्रभाव रहा था, हानिकर ह्रासोन्मुख पहलू उन्हें हमेशा गहराई से अप्रिय लगते थे।

आधुनिकतावादी प्रवृत्तियां सबसे पहले बंगला साहित्य में दिखायी देती हैं। कुछ तरुण अग्रगामी बंगाली लेखकों के समूह ने, जो उस समय 'कल्लोल' पत्रिका को केंद्र बना कर 1923 में इकट्ठा हुआ था, अपने राष्ट्रीय साहित्य के आधारगत नवीकरण के और अपनी क्लासिकल विरासत को अमान्य करने के अधिकार के पक्ष में था। रवीन्द्रनाथ ने भारतीय साहित्य की हानिकर प्रवृत्तियों के विरुद्ध, पश्चिम की बुर्जुआ संस्कृति के प्रतिक्रियावादी प्रभाव के भारत में प्रवेश के विरुद्ध संघर्ष आरंभ किया। तीसरे दशक के पिछले वर्षों में जब 'कल्लोल' समूह के बंगाली लेखकों के लेखन की यथार्थवादी लेखकों ने आलोचना की तब आधुनिकतावादी लेखकों ने समर्थन के लिए उनका हाथ पकड़ा। कलकत्ता में उनके घर पर दोनों समूहों के प्रतिनिधियों के बीच बातचीत कराने का कार्यक्रम रखा गया। रवीन्द्रनाथ ने प्रगतिशील लेखकों का खुलकर समर्थन किया। उन्होंने इन भाषणों के मुख्य विचार अपने लेखों 'साहित्य का रूप', 'साहित्य की समीक्षा', 'साहित्य का कर्त्तव्य', और 'बहुगुणी आधुनिक साहित्य' में पल्लवित किए। आपने लिखा : "मुझे बहुत-सी ऐसी चीज़ दिखाई देती हैं जो रूपहीन और बेताला है और कुल यथार्थ को एक खिन्नताजनक या अत्यधिक रोगग्रस्त और विद्रूप के रूप में प्रस्तुत करता है···।"

यथार्थ की इस तरह की निंदा आत्मनिष्ठ दृष्टियों और आध्यात्मिक विरूपणों की अभिव्यक्ति मात्र है। इसे संसार की किसी निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से 19वीं सदी के शुरू के स्वच्छन्दतावादी भावुकतावाद के लेखकों के विचारं की तुलना में अधिक आधुनिक और अधिक सही कहकर उचित नहीं ठहराया जा सकता। बहुत से अध्ययनकर्ताओं की यह मान्यता है कि संयम का यह अभाव कुलकों (जमींदारों के एक रूप) का यह तलवार मांजना आधुनिकतावाद है।

कल्लोल समूह के लेखकों ने रवीन्द्रनाथ से समर्थन न मिलने पर उनकी तीखी आलोचना की और यह सिद्ध करने की कोशिश की कि उनकी रचनाएं दकियानूसी किस्म की और स्पष्टतः 'मनुष्य की ऊर्जा को कमजोर करती हैं।' इनमें नरेशचन्द्र सेन गुप्ता ने सबसे आगे बढ़कर आलोचना की और महान लेखक पर कट्टरपंथी और रूढ़िवादी होने का आरोप लगाया।

आधुनिकतावादी लेखकों के साथ रवीन्द्रनाथ का वाद-विवाद साहित्यिक प्रचारक पत्रिकाओं के पृष्ठों पर ही नहीं, उनकी साहित्यिक कृतियों में भी पाया जाता है। इस प्रकार उनकी शेषेर कविता (1929) में उन्होंने उन कवियों की खिल्ली उड़ाई है जो अपने फैशन-प्रेम के कारण सारतत्त्व से रहित और जीवन से अलग-थलग आडंबर प्रधान साहित्य की रचना करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने भारतीय साहित्य में आधुनिकतावादी, ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के विरोध में और सामाजिक प्रगति के प्रयोजन से लिखे गए साहित्य के पक्ष में जो संघर्ष शुरू किया था उसे प्रगतिशील भारतीय लेखकों ने आगे जारी रखा।

भूमंडल के सब राष्ट्रों के बीच भिन्न-भाव बढ़ाने के काम में रवीन्द्रनाथ की जो देन रही उसका मूल्यांकन करना बड़ा कठिन है। भारतीय समाज में, जो जात-बिरादरी और साम्प्रदायिक मतभेदों से छिन्न-भिन्न था जिन्हें ब्रिटिश उपनिवेशवादी बढ़ावा देते थे, सारे भारतीय जनों की एकता और संगठन के लिए उनकी अपील बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। लेखक का विचार था कि भारतीय जनता के संगठित होने से ही सामाजिक प्रगति हो सकती है। इसलिए उन्होंने सदा इस बात पर जोर दिया कि राष्ट्रीय साहित्य भारतीय समाज के एकीकरण का एक सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है। रवीन्द्रनाथ को पूर्णतया भारतीय वातावरण में कोई संकोच नहीं होता था। उन्होंने उद्देश्य की समानता तथा सारी मानव जाति के सुख और बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष के काम के द्वारा भारत को बाहरी संसार से जोड़ा था। उनके इन विचारों को आज भारत के बहुत सारे प्रगतिवादी लेखकों ने पल्लवित किया है जो राष्ट्रीय स्वाधीनता और संप्रभुता को पुष्ट करने का और संयुक्त बहु-जातीय भारतीय राज्य को दृढ़ करने का तथा भूमंडल की सब जातियों के बीच भिन्नता और सहयोग पैदा करने का काम करते हैं।

रवीन्द्रनाथ के देशवासी ही नहीं, संसार के सब भागों के लोग उनकी छोड़ी हुई विरासत को अक्सर याद करते हैं और उनके वसीयतनामे को स्मरण करते हैं जो उनके अपने जीवन का आदर्श वाक्य बन गया था।

···विदा लेने से पहले,

मैं सबसे कहता हूं—भूमंडल के सब हिस्सों में, कि वे बर्बरता की शक्तियों से मोर्चा लें।

रवीन्द्रनाथ ने भारत के राष्ट्रगीत की रचना की थी। इसके बारे में मैं कुछ

विस्तार से कहना चाहता हूं। चौथे दशक के पिछले वर्षों में, भारत की स्वाधीनता से बहुत पहले जवाहरलाल नेहरू रवीन्द्रनाथ से मिलने शांति निकेतन गए। रूस की बहुत-सी प्रगतिशील जातियों की तरह, जो टालस्टाय से मिलने, बात करने और उनकी सलाह लेने यास्नया पोल्याना जाया करते हैं, भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के अनेक नेता रवीन्द्रनाथ से सदा मिलते रहने की आवश्यकता अनुभव किया करते थे जो अपने जीवन के अंतिम वर्षों में कलकत्ता से कुछ ही दूर अपने जन्म स्थान में बस गए थे। नेहरू के मन में इस महान लेखक के लिए बड़ा सम्मान था और वे इन्हें उस समय के भारत के सबसे विशिष्ठ व्यक्तियों में मानते थे। नेहरू के शब्दों में, 'रवीन्द्र नाथ...भारतीय जनता की आजादी के बारे में इतने संवेदनशील और समर्पित थे कि वे सदा अपनी कविता और गायन की सुनहरी अटारी में नहीं रह सकते से।'

भारत के दो महान पुत्रों की यह अंतिम भेंट थी। बातचीत के अंत में नेहरू ने कवि से प्रार्थना की कि वे भविष्य के स्वाधीन भारत के लिए राष्ट्रगीत लिखें। उन्हें क्षण भर के लिए भी इस बारे में शंका नहीं थी कि स्वाधीनता के संघर्ष में भारतीय जनता की विजय होगी। रवीन्द्रनाथ ने नेहरू की प्रार्थना पूरी करने का वचन दिया। लेकिन वे शीघ्र ही अधिक बीमार हो गए और 1941 में गुजर गए। और जब भारत स्वाधीन हुआ, तब रवीन्द्रनाथ का गीत 'जन-गण-मन' भारतीय गणराज्य का राष्ट्रगीत बन गया। नेहरू ने कहा कि मुझे केवल इसी कारण संतुष्टि नहीं अनुभव होती कि यह एक महान राष्ट्रीय गीत है। बल्कि इसलिए भी होती है कि इससे हमें सदा रवीन्द्रनाथ की स्मृति बनी रहती है।

24 जनवरी, 1950 को भारत-गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इस गीत को अधिकृत रूप से संसद् के एक अधिवेशन में राज्य का गीत प्रख्यापित किया। संसद् के सदस्यों ने इसे बड़े उत्साह से गाया।

इस अद्‌भुत गीत का अपना इतिहास है। इसका पदबंध और संगीत की रचना रवीन्द्रनाथ ने 1911 के अंत में की थी। यह पहली बार 29 दिसंबर 1911 को कलकत्ता में इंडियन नेशनल कांग्रेस के छब्बीसवें अधिवेशन में गाया गया था। कुछ अंग्रेज-पक्षपाती अखबारों ने गीत के अर्थ को विकृत किया और इसका संबंध भारत में ब्रिटिश वायसराय के आगमन के साथ जोड़ने की कोशिश की। तब भारत के देशभक्त अखवारों ने इसे 'देशभक्ति पूर्ण गीत' कहा। स्वयं लेखक ने लिखा : 'जो लोग मुझे इतनी असीम मूर्खता का पात्र मानते हैं कि मैं जार्ज चतुर्थ या जार्ज पंचम की प्रशंसा उन्हें ऐसा चिरंतन सारथी मानकर कर सकता हूं जो मानव जाति के अनंत इतिहास के अगणित युगों में यात्रियों का मार्गदर्शन करते हैं, उनकी बातों का उत्तर देकर मैं स्वयं अपना अपमान कर रहा हूंगा।' उपनिवेशवादी उस गीत का सही अर्थ भी ठीक-ठीक समझते थे और

रवीन्द्रनाथ के सारे साहित्य और जीवन का भी। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन ने नेशनल कांग्रेस के 26वें अधिवेशन के शीघ्र बाद एक सर्कुलर निकाल कर सरकारी कर्मचारियों को यह चेतावनी दी कि रवीन्द्रनाथ द्वारा शांति-निकेतन में स्थापित विश्वविद्यालय उनके बच्चों के प्रवेश के लिए उचित स्थान नहीं है और इस विश्वविद्यालय से संबंध रखने से उनकी नौकरी के भविष्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

प्रगतिशील भारतीय समुदाय ने उत्साह से इस गीत का स्वागत किया। पहली बार यह जनवरी 1912 में आदि ब्रह्म समाज की अधिकृत पत्रिका 'सत्य-बोधिनी पत्रिका' में 'भारत विधाता : ब्रह्म संगीत' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं कई बार यह गीत गाया और इसे गाने के निर्देश दिए। शीघ्र ही यह भारत में अनेक शिक्षण संस्थाओं का 'प्रातः गीत' बन गया और प्रातः-कालीन प्रार्थना के रूप में गाया जाने लगा। यह गीत सामाजिक सम्मेलनों और प्रदर्शनों में भी गूंजता रहा है। दो अन्य विलक्षण देशभक्तिपूर्ण गीतों, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'वन्दे मातरम्' और मुहम्मद इकबाल के 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा', के साथ-साथ यह 14 अगस्त 1947 को दिल्ली में संविधान सभा के उस ऐतिहासिक महत्त्व के अधिवेशन में गाया गया था जिसमें भारत की स्वाधीनता की उद्घोषणा की गई थी। इस गीत के प्रति करोड़ों भारतीयों की भावना को महात्मा गांधी ने 1946 में रवीन्द्रनाथ के जन्मदिवस की एक सभा में भाषण करते हुए बड़ी अच्छी तरह प्रकट की थी। उन्होंने कहा था : 'इस गीत का हमारे राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। कितनी ही बार हजारों आदमियों ने इसकी प्रेरणादायक धुन गायी है। यह खाली गीत नहीं, एक दिव्य गान है।'

जब जवाहरलाल ने यह सुझाव रखा कि यह गीत भारत का राष्ट्रगीत बनाया जाए तब उन्होंने सबसे ज्यादा जोर इस बात पर दिया कि भारत के सब लोग एक हैं, चाहे उनका धर्म या भाषा कोई भी हो। इसमें राष्ट्रीय भावना अंतर्राष्ट्रीय भक्ति भावना, मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य के साथ अभिन्न रीति से जुड़ा हुआ है। भारत के सब लोगों की एकता को उनकी सुख-समृद्धि की सबसे महत्त्व-पूर्ण शर्त घोषित करते हुए साथ ही यह गीत रवीन्द्रनाथ के प्रिय विचार—विश्व सामंजस्य, सार्वभौम बंधुता और संसार की सब जातियों के बीच सहयोग पर भी बल देता है।

भारत की जनता में राष्ट्रीय चेतना जागने के काल के अन्य बहुत से प्रसिद्ध नेताओं की तरह, रवीन्द्रनाथ भी धर्म को देश के राष्ट्रीय हित की रक्षा के प्रयोजन के लिए अपने देशवासियों के एकीकरण का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम मानते थे।

मेरा यह सौभाग्य है कि मैंने इस गीत का रूसी भाषा में सर्वप्रथम अनुवाद किया है ताकि सोवियत लोग भी इस गीत से आनंद उठा सकें।

जनता को जीवन के मार्गों पर दिशा निर्देश करने वाले, उन्हें दुःख और कष्ट से छुड़ाने वाले भारत-विधाता का बिंब इस गीत में रवीन्द्रनाथ की संसार की सार्वभौम आत्मा के प्रिय विचार से जुड़ा हुआ है—यह सार्वभौम आत्मा, तथा-कथित जीवन-भक्ति है जो सारतः निरंतर विकसित होते नित्य जीवन, भव्यता और मनुष्य तथा उसकी आत्मा को अमर करने के मानववादी विचार का ज़ोरदार कथन है। इस गीत की यह चेतना करोड़ों लोगों के हृदयों में मातृभूमि के लिए प्रचंड प्रेम के बिंब से जुड़ी हुई है जो उसके बच्चों की मदद करने के लिए किसी भी बुरी बात से उनकी रक्षा करने के लिए और उन्हें सही मार्ग दिखाने तथा शांति और सामंजस्य उनमें लाने को सदा तैयार है।

भारत में इस गीत की अत्यधिक लोकप्रियता, इसका सच्चा राष्ट्रीय स्वरूप और गंभीर मानववाद, हमारे विचार में, इस कारण आये हैं कि इसमें विचार केंद्र भारतीय जनता है जो सारी कठिनाइयों और दुर्भाग्य के बावजूद कभी निराश नहीं होती। यह गीत उस सीधे मनुष्य के लिए भी है जो भविष्य को आस्था और आशा से देखता है और जो एक नये जीवन के अरुणोदय का स्वागत सुख और स्वतंत्रता के वचन देकर करता है। यह गीत मनुष्य का यशोगान करता है, भारतीय जनता की भावना की भव्यता का गान करता है और मानव जाति की अमरता पर बल देता है।

मुहम्मद इकबाल—विश्व साहित्य का गौरव

(इकबाल की और पुश्किन की कविता का प्ररूपात्मक विश्लेषण)

मुहम्मद इकबाल के शताब्दी समारोह के सिलसिले में मेरे पुराने मित्र अली सरदार जाफ़री ने मुझसे कहा कि मैं इकबाल और पुश्किन की कविता की तुलना करने की कोशिश करूं। साफ़ बात यह है कि पहले मेरे मन में आया कि मैं यह काम करने से इन्कार कर दूं क्योंकि ऊपर से देखने पर ऐसे भिन्न कवियों की, जो किसी भी तरह एक-दूसरे से जुड़े हुए नहीं थे और ऐसे भिन्न ऐतिहासिक युगों और राष्ट्रीय संस्कृतियों के कवि थे, रचनाओं और दृष्टिकोण में सांझी चीज़ ढूंढ पाना असंभव मालूम होता था।

विभिन्न देशों के विद्वानों ने पूर्व और पश्चिम के बहुत से कवियों के साथ इकबाल की तुलना की है रूमी और हाफ़िज़ के साथ, दांते और मिल्टन के साथ, गालिब और गेटे के साथ। ये तुलनाएं बहुत बार बड़ी सुखदायक और कायल करने वाली सिद्ध होती हैं क्योंकि इकबाल की सर्जनात्मक कृति में और उन कवियों की कृति में कुछ औपादानिक संबंध दिखाई देते हैं। इकबाल ने बहुत जगह उनके सर्जनात्मक अनुभव से सामग्री ग्रहण करके उसे भारतभूमि तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। पर पुश्किन के साथ इकबाल की कविता का जरा भी संबंध ढूंढ़ने के सारे प्रयत्न बेकार सिद्ध हुए। मैं यही निष्कर्ष निकाल सका कि उन्हें इस महान रूसी कवि के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। पर जैसे-जैसे मैं इस समस्या की गहराई में गया, और जैसे-जैसे मैंने इकबाल की और पुश्किन की कविता-पंक्तियों के जादू और संगीत का पान किया, वैसे-वैसे मुझे उनमें कथ्यों और अभिप्रायों (मोटीफ़) की समानता, भारतीय और रूसी कवियों की कविता पंक्तियों और विचारों में अधिकाधिक समानता उतनी ही अधिक स्पष्ट दीखने लगी।

इन समानताओं का कारण क्या हो सकता है? क्या इसकी तह में कोई ऐसी दोनों को जोड़ने वाली बात हो सकती है जिसके कारण स्पष्ट दीखने वाले समानता लक्षण पैदा हो गए?

मानव जाति के विकास से यह बात अच्छी तरह से प्रदर्शित हो चुकी है कि

जातियों के वीच सीधे संवंधों और संपर्कों के अभाव से सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास के प्राकृतिक प्रक्रम पर प्रभाव पड़ना आवश्यक नहीं। ऐतिहासिक और सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं में एकरूपता हुआ करती है, चाहे वे कैसी भी और कहीं भी हों। ये मानव चिंतन-प्रक्रम को साथ लेकर चलती हैं और उन्हें वढ़ावा देती हैं, कलात्मक अभिव्यक्ति के विकास को वढ़ाती हैं और उसके द्वारा इसके विस्तार को वढ़ाती हैं और इस प्रकार मनुष्य की संवृद्धि और सुधार के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करती हैं। इसलिए यदि विचारधारा और राजनीतिक प्रवुद्धता की कोई प्रवृत्ति एक जैसी है और इसलिए उनकी आसानी से तुलना की जा सकती है तो इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं।

पुश्किन और इकवाल की रचनाएं विश्व साहित्य की विरासत का हिस्सा हैं।

जव हम 'विश्व साहित्य' कहते हैं, तव हमारे मन में इसकी एक निश्चित संकल्पना होती है। जैसाकि सुविदित है, 'विश्व साहित्य' का विचार सवसे पहले गेटे ने उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक के अंतिम वर्षों में पेश किया था। इस जर्मन कवि के अनुसार इसका मतलव है राष्ट्रीय संकीर्णता की सीमाओं से परे और महान मूल्य वाली हर चीज़, वह चीज़ जो ऐतिहासिक विकास की सव मंज़िलों पर सव जातियों द्वारा रची गयी है। 'कम्युनिस्ट पार्टी के मैनिफ़ेस्टो' (1848) में मार्क्स और ऐंजल्स ने वैचारिक दृष्टि से 'विश्व साहित्य' की संकल्पना को नये वुर्जुआ समाज के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता वताया था। 'अलग-अलग राष्ट्रों की वौद्धिक रचनाएं सांझी संपत्ति वन जाती हैं। राष्टीय एक-पक्षीयता और संकीर्ण मनस्कता अधिकाधिक असंभव हो जाती है और अनेक राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्यों से एक विश्व साहित्य का जन्म होता है।'

जर्मनी में गेटे और रूस में पुश्किन नये युग के 'विश्व कवि' थे। उन्होंने विश्व साहित्य की विभिन्न परंपराओं को अपनाया और परिवर्तित किया। विश्व साहित्य के कौरव-ग्रंथों (क्लासिक) के रचयिताओं की तरह उन कवियों की रचनाओं की मुख्य कसौटियां हैं उच्च कलात्मक मूल्य, सच्ची जनभावना, और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय तत्त्वों का सजीव संयोजन।

स्वभावतः ये लेखक अपनी प्रतिभा, ज्ञान और जीवन की समझ-वूझ, विश्व दृष्टि, कलात्मक रीतियों और राष्ट्रीय विशेषताओं की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।

फिर भी, उनकी रचनाओं ने एक ही सामाजिक मूल्य अपनाए और सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पहलू का विकास करने में अत्यधिक सहायता की।

एक न एक तरीके से वे उन ऐतिहासिक प्रश्नों के उत्तर देते हैं जो व्यापक मानव समाज के सामने और परिणामतः विश्व साहित्य के सामने किसी युग-विशेष में आकर खड़े होते हैं।

सच्चे जनता के लेखक, चाहे वे किसी भी राष्ट्र में जन्मे हों, अपने युग के प्रगतिशील सामाजिक आदर्शों के प्रकाश में जीवन प्रदर्शित करते हैं और सबसे बड़ी बात यह कि उसी प्रकाश में मानव प्राणी को मान्यता और सम्मान देते हैं। वे मानव के उदात्त गुणों पर ध्यान देते हैं और उसके जीवन तथा परिपूर्णता के मार्ग की बाधाओं का प्रबल विरोध करते हैं। इसी कारण उनकी रचनाएं, न केवल उनके देशवासियों के बल्कि अन्य देशों के लोगों के हृदयों को गहरे स्पर्श करती हैं और मानवजाति के सांस्कृतिक विकास में और लिबरल (नरम बंधनों वाले) समाज के लिए मानव के संघर्ष में इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

उनकी सृजनात्मक कृतियों में मौजूद राष्ट्र-गत घटक अंतर्राष्ट्रीय घटक के साथ सजीव रीति से मिल कर एक अखंड वस्तु बनाता है। इसका जनता के आत्मिक और सांस्कृतिक आचार बोध में बड़ा भारी महत्त्व हो जाता है, जिससे विश्वास और आपसी समझ-बूझ का वातावरण विशेष रूप से धरती पर शांति बनाए रखने और उसे पुष्ट करने के क्षेत्र में, बन जाता है।

कुछ ऐतिहासिक कारणों से और सबसे बढ़ कर तो राष्ट्र के औपनिवेशिक दमन के कारण, भारत के साहित्यों का विकास धीरे-धीरे हुआ।

भारत में उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग तक ही, मार्क्स और एंजल्स के शब्दों में 'साहित्यिक विकास के क्षेत्र में एकपक्षीयता और संकीर्ण-मनस्कता असंभव हो गयी। भारतीय साहित्य की सबसे अधिक ताज़गी लाने वाली और जीवंत वेगवती धाराएं विश्व साहित्य के साथ प्रवाह की ओर तेज़ी से बढ़ीं और उन्होंने इसे अतीत की महानतम परंपराओं से समृद्ध किया और नयी परिस्थितियों में उसे पुनर्जीवित करके उसकी नई व्याख्या की।

जिन भारतीय लेखकों ने अपनी कृतियों में विश्व साहित्य की सर्वोत्तम उपलब्धियां एकत्र कीं, जिन्होंने भारतीय साहित्य के आदर्श कलात्मक नवीनीकरण में सर्वोच्च भूमिका निभायी, और यों कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य को विश्व-व्यापी मान्यता के स्तर तक पहुंचाया, उनमें हम रवींद्रनाथ ठाकुर के बाद दूसरे स्थान पर मोहम्मद इकबाल का ही नाम रख सकते हैं।

और यहां इकबाल के आधुनिक उर्दू कविता लेखन की श्रेष्ठ रचनाओं में और पुश्किन की रचनाओं में, जिसे नये रूसी साहित्य का प्रवर्तक मानना ठीक ही है, साम्य दिखायी देता है।

इस लेख में मैं इन दो महान कवियों की काव्य रचनाओं में कुछ प्ररूपात्मक समानताओं की मोटी रूपरेखाएं खींचने की ही कोशिश कर सकता हूं। चूंकि मैं

पुश्किन के लेखन के सब पहलुओं के विश्लेषण पर विस्तार से यहां इकबाल की कविता से तुलना नहीं पेश कर सकता। इसलिए पुश्किन के कुछ प्रामाणिक सोवियत विद्वानों के विचार और निष्कर्ष ही प्रस्तुत करूंगा।

इकबाल और पुश्किन की काव्यकृतियों में मनुष्य की संकल्पना

पुश्किन के सृजनात्मक लेखन का अभिप्रेरक बल, अपने चारों ओर मौजूद वस्तुनिष्ठ यथार्थ को देखने-समझने की आवश्यकता, समसामयिक मानव की—उस मानव की जिस पर अपने युग की मुहर लगी है, भेदक विशेषताओं और विचित्रताओं का 'वर्णन करने का प्रयास' था। रूसी कविता में पहली बार पुश्किन ने ही मनुष्य को 'उसके ऐतिहासिक महत्त्व के, राष्ट्रीय और सामाजिक अस्तित्व के पूर्णतया मूर्त रूप में' उद्घाटित किया। पुश्किन की रचनाओं में मानव की नियति को उसके राष्ट्र या जनगण की नियति से अलग नहीं किया जा सकता है। रूसी साहित्य में व्यष्टि के पृष्ठपोषण का अर्थ था समष्टि जनगण का पृष्ठ-पोषण क्योंकि व्यष्टि की स्थिति से समाज की किसी विशेष निश्चित अवस्था में जनगण की स्थिति प्रकट होती है। और बेलिन्स्की ने पुश्किन की रचनाओं में यह बात लक्ष्य की थी। पुश्किन रूसी साहित्य में चल रही हानिकारक, घिसी-पिटी और अपमान-कारक प्रवृत्तियों से डट कर लड़े। उस ज़माने में जब बाबा-शाही कट्टरपंथी मतों और सुखा देने वाले पंडिताऊ पंथों का बोलबाला था, उस समय उसने पार्थिव अस्तित्त्व की प्रसन्नता को उपादेय बताया। उसका आदर्श था एक स्वतंत्र मनुष्य जो अपनी शक्ति और बल पर भरोसा रखता है। उसने लिखा कि संसार मानव के चारों ओर परिक्रमा कर रहा है, इसलिए निश्चय ही मानव स्वयं भी गतिहीन नहीं रह सकता।

और···

"···सुखी मानव, तुम जीवन सुख के लिए जीते हो।"

"क्लासिकी साहित्य के काव्यशास्त्र के उपदेशपरक तर्कसंगतिवाद और कर्त्तव्य कथन···के स्थान पर पुश्किन की कविता में मानव-व्यष्टि के इस अधिकार को रोमांटिक मान्यता मिली कि उसके अपने दैहिक स्वरूप पर ध्यान दिया जाना चाहिए, और उनके साथ संबंधित रोमांटिक सिद्धांत, सृजनात्मकता की स्वतंत्रता को भी मान्यता मिली जिससे अमूर्त साहित्यवर्गों और प्रतिरूपों की दुनिया से हट कर जीवंत जीवन की दुनिया में आने की संभावना बन सकी।" परंतु पुश्किन का रोमांटिक सिद्धांत कोई अमूर्त—चिंतनात्मक और निष्क्रिय रोमांटिक सिद्धांत नहीं था। जैसाकि वी० मैलाख ने ज़ोर देकर कहा है : '· पुश्किन के लिए आत्मशांति, जीवन-त्याग के आदर्शीकरण से, चाहे इसका रूप कुछ भी हो, अधिक अजनबी और कुछ भी नहीं था।' पुश्किन ने लिखा था :

"धरती पर जीवन जिसमें रोग भी है, गरीबी भी, दुःख भी, बुढ़ापा और कैद-
खाना भी...
उसके मुकाबले सुखदायक होगा जिसकी हम मर जाने के बाद संभावना
करते हैं।"

व्यष्टि मानव की इकबाल और पुश्किन की संकल्पनाओं में बरबस समानताएं दिखायी पड़ जाती हैं। पुश्किन की तरह इकबाल ने भी जीवन संबंधी प्रश्नों का नये तरीके से समाधान करने का यत्न किया; उसने मानव और संसार के जटिल संबंध को जानने का, समाज के विकास के मार्ग और सभ्यता की प्रगति को समझने का प्रयास किया, उसने अपने समकालीनों के चरित्रों की उन विशेषताओं और विचित्रताओं के सामाजिक महत्त्व को संपुष्ट करने की कोशिश की जिन्हें पुरानी परंपरा के अलंबरदार नकारात्मक मानते थे, नैतिकता, सदाचार और सौंदर्यशास्त्र के आदर्शों के विपरीत बताते थे। पुश्किन की तरह इकबाल की भी सारी साहित्य रचना का मुख्य अभिधेय मनुष्य और जीवन ही था। इकबाल भी पुश्किन की तरह हर्ष और दुःख से भरे सांसारिक जीवन को उसी परियों की कहानी वाले स्वर्ग के मुकाबले अधिक स्पृहणीय मानते थे जिसमें कोई संघर्ष नहीं था और हर चीज जड़ हुई पड़ी थी। उन्होंने लिखा :

"प्रेमियों के हृदय भर जाते हैं अनंत स्वर्ग में। वहां न कोई दुख भरा गान है; न दुःख है, न कोई कष्टग्रस्त मित्र है।"

(पयामे-मशरिक़)

पुश्किन की तरह इकबाल भी चिरयौवन और अद्‌भुत जीवन के गुण गाता है और इस प्रकार धार्मिक कठमुल्लों से टकराता है। प्रमुख सोवियत विद्वान एन० आई० प्रिगेरिना ने लिखा है कि उसने मनुष्य के सामने अपने प्रति और अपने समाज के प्रति उसके निजी दायित्व का सिद्ध तथ्य पेश करके उसे मध्यकालीन मुस्लिम नैतिकता के बंधनों से वास्तव में मुक्त कर दिया।

इकबाल के मानववादी प्रयास की ऊंची नागरिक चेतना प्रथम तो इस बात में निहित है कि उसने शुरू में मानव प्रकृति, और अपने देशवासियों की प्रकृति बदलने का प्रयास किया। 'यदि मानव की प्रकृति नहीं बदलेगी तो नये संसार का जन्म किसी भी तरह नहीं हो सकता', इकबाल ने पयामे-मशरिक़ में लिखा था। उसने सशक्त, साहसी, जीवंत और क्रियाशील मनुष्य का गुणगान किया है जो संसार को बदल सकता है। उसकी कविता 'हूरी और कवि' में हूरी को उत्तर देते हुए, जो स्वर्ग के द्वार पर खड़ी उससे पूछती है कि स्वर्ग में प्रवेश पाने के लिए तूने क्या किया है, मनुष्य कहता है,

"मैं मनुष्य था संसार में,
यानी मैं योद्धा था।"

पुश्किन की तरह इकबाल भी यह मानता है कि मनुष्य संसार की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है। उसका मनुष्य स्वयं ईश्वर से विवाद करता है और इस प्रकार प्रकृति को अपना गुलाम बनाने और संसार को बदलने में अपने बल और अनंत साधनों का सामर्थ्य सिद्ध करता है।

आदर्श मनुष्य के बारे में इकबाल की अवधारणा उस समय भारत और अन्य पूर्वी देशों में बहुत फैली हुई उस विचारधारा से मूलतः भिन्न है जिसके अनुसार मनुष्य अपने आस-पास के संसार के प्रति निष्क्रिय, आत्मत्यागी और उदासीन होता था—वह विचारधारा मनुष्य को उपनिवेश बनाने वालों के प्रति दीनतापूर्वक समर्पण का, बुराई और बलप्रयोग के मुकाबले में प्रतिरोध-त्याग का पात्र मानती थी। जैसाकि मेइंलाख ने कहा है : 'जीवन को और भौतिक सुखों को मुख्य मूल्यवान चीज़ मानने का आग्रह यद्यपि उस समय पारलौकिक सुख और परम आनंद के विचार का बोलवाला था—पुश्किन की कविता का प्राण और हृदय है…' और हमारा एक यह कहना भी उचित ही होगा कि इकबाल की कविता का प्राण और हृदय भी यही है।

पुश्किन की और इकबाल की कविता का सामाजिक रुझान

ऊंचे मानवतावादी आदर्शों से ओतप्रोत इकबाल की कविता की तुलना पुश्किन की रचनाओं से भी की जा सकती है जिनमें उच्चकोटि का नागरिक आवेश भरा पड़ा है। ज़ारशाही के स्वच्छंद शासन में रहते हुए पुश्किन को भारी हानि उठानी पड़ी, '· क्योंकि जनता और राष्ट्रों में मनमुटाव था, क्योंकि इतिहास में दुखद परस्पर विरोध थे जो राज्य को व्यष्टि के विरोध में और जनता को स्वच्छंद शासन के विरोध में खड़ा कर देते थे जिससे कभी हल न होने वाले संघर्ष पैदा होते थे', वी० एम० मार्कोविच ने लिखा है। 'पर पुश्किन के विचारों के अनुसार यह सब अनुभव हो जाने पर अनिवार्यतः दूसरा आदर्श सामने आ जाता है—सबके लिए एक संयुक्त, अखंड न्यायोचित, करुणाश्रित, मेल-मिलाप से व्यवस्थित जीवन का आदर्श।' पुश्किन की ही तरह, जिसने मानव की विषमता की, उसके विकास की, उसके आध्यात्मिक जीवन और मानव के विकास की एकांगिता को लक्ष्य किया (वी० एम० मार्कोविच) जिसका रोष तभी उभर उठता था जब वह नागरिक अधिकारों से वंचित वह सामंतीय किसानों का कमर-तोड़, बेगार श्रम और अवस्थाएं देखता था, इकबाल ने भी इस बात पर बल दिया कि 'मुनाफा कमाने पर बने पूंजीवादी जगत में निःस्वार्थ भाईचारे का कोई संबंध नहीं है, और उनके अपने तात्विक स्वरूप के कारण यह संबंध हो भी नहीं सकता।'

पुश्किन की कविता 'गांव-देहात में' (इन द कंट्री) सारे रूस में सर्फ (संत-गुलाम) व्यवस्था के क्रोधपूर्ण विरोध के रूप में उचारित हो गयी और इसने देहात के स्वर्गिक सुख की कल्पना की धज्जियां उड़ा दीं जिसका गुणगान निष्क्रिय स्वच्छंदतावादी कर रहे थे। बड़े रोष के साथ रूसी कवि कहता है'

"यहां मौज करती है हृदयहीन और कानून
की पकड़ से मुक्त मालिकों की एक जमात;
अपने निष्ठुर डंडे से यह छीन खाती है
किसान का श्रम उसकी संपत्ति और उसके दिन।"

पर पुश्किन कोई उदास निराशावादी नहीं है। उसे तर्क, सत्य और न्याय की विजय में आस्था है। कविता के अंतिम अंश में कवि एक 'स्वतंत्र राष्ट्र' के, 'एक सुंदर कानून' के जन्म लेने का स्वप्न देखता है जो अंततः उसकी पितृभूमि पर छा जाएगा।

पुश्किन के देशभक्ति भरे गीत जनता की शक्ति के एक नये युग के आगमन के हर्षबोध से ओत-प्रोत हैं। अपनी कविता 'चादेयेव के प्रति' में उसने अपने देश-वासियों के हृदयों में मुक्ति के प्रति आशा दृढ़ करने का यत्न किया है :

"साथी, सच मानो, हर्ष का तारा उछल आयेगा
हमारी आंखों के आगे, एक उज्ज्वल संकेत;
रूस जागेगा अपनी कुंभकर्णी नींद से,
और जहां तानाशाही पड़ी है ध्वस्त
हमारे नाम वहां गहरे खोदे जाएंगे।"

उन लोगों के नाम जो आज़ादी और रूस के बेहतर भविष्य के लिए निःस्वार्थ भाव से लड़े, जिन्होंने रूसी मजदूरों को आज़ाद कराने की कोशिश की। अपनी रचना 'दिसंबरियों के नाम संदेश' में पुश्किन ने उन लोगों के हृदयों में आशा का अंकुर उपजाने की कोशिश की जिन्हें 1825 के विद्रोह में हिस्सा लेने के कारण दंड विधान के अनुसार जेल भुगतो की सज़ा दी गयी थी।

'इसके बाद सब भारी बेड़ियां हट जाएंगी,
जेलखाना भरभरा जाएगा; आजादी के नारे
तुम्हारा स्वागत करेंगे काल कोठरी के भीतर
तुम्हारे भाई तलवारें भेजेंगे तुम्हारे लिए।'

और उन अग्निमय पंक्तियों के सौ वर्ष बाद भारतीय कवि ने रूस में हुई क्रांति का स्वागत किया—उसका रूसी कवि-बंधु इस क्रांति का स्वप्न ही देख सकता

था। अपनी कविता 'खिज़रे-राह' में इकबाल ने भारत में पहली बार संसार के मजदूरों का आह्वान किया कि वे रूसी क्रांति का अनुसरण करें :

"उट्ठो ! दुनिया का एक नया ढांचा बनकर निकला है
तुम्हारा युग शुरू हो रहा है पूर्व में और पश्चिम में।"

इकबाल ने आर्थिक, राजनीतिक, आत्मिक सभी प्रकार के अत्याचार का विरोध किया है और बुर्जुआ समाज के अमानवीय रूप का पर्दाफ़ाश किया है। जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने लेख 'क्राइसिस आफ सिविलिजेंशन' (सभ्यता का मोड़बिंदु) में 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग 'पूंजीवाद' के लिए करते हैं वैसे ही इकबाल ने 'यूरोपीय सभ्यता' का निर्भयता से पर्दाफ़ाश करते हुए पूंजीवाद की भर्त्सना की है :

"पश्चिम के आकाश पर मानव करुणा का अभाव है
रक्त की नदियां ही रक्त की नदियां हैं···"

(बाले-जिब्रिल)

और आगे :

"बेरोज़गारी, गरीबी, ज़रूरत भ्रष्टाचार—
क्या पश्चिमी विजयों की यह सूची काफ़ी नहीं ?'

पुश्किन की ही तरह, इकबाल भी निराशावादी नहीं है। इकबाल की कविता में पुश्किन के देशभक्तिपूर्ण गीतों और खंडनकारी ज्वाला से बड़ा साम्य है, इकबाल ने अन्याय का, मानव-गरिमा की अवहेलना का विरोध किया है और क्रांति की शोधकशक्ति में विश्वास प्रकट किया है। इकबाल ने लिखा था :

धनी लोग अपने लिए गरीबों के खून के
मोतियों की माला बनवाते हैं
लालची ज़मींदार का लोभ किसानों को लूटता है
क्रांति, क्रांति, मैं तेरा आह्वान करता हूं।

पुश्किन की और इकबाल की सृजनात्मक कृतियों के अध्ययनकर्ता बताते हैं कि रूसी कविता में ऊंची नागरिक भावना और लोकतंत्रीय आकांक्षाएं पुश्किन की बदौलत आयीं और उर्दू कविता में इकबाल की बदौलत। उदाहरण के लिए, नगेन्द्र ने लिखा है कि 'इकबाल ने उर्दू कविता को सामाजिक प्रयोजन से अनुप्राणित किया।' अपने ज़माने में गोर्की ने सोवियत लेखकों से अपील की थी कि वे पुश्किन से सीखें—सीखने के संकीर्ण और औपचारिक अर्थ में नहीं, बल्कि एक कवि—एक नागरिक—के ऊंचे कर्म को समझें, साहस के साथ अनुभव करें और

साहस के साथ सोचें। जैसे पुश्किन ने ज़ार कालीन निरंकुश शासन में रूसी जनता में देशप्रेम और नागरिक कर्तव्य की भावनाएं जगायी थीं, वैसे ही इक़बाल ने अपने देश-वासियों को भारत की औपनिवेशिक गुलामी से उत्पन्न गिरावट और पस्तहिम्मती से निकालने का यत्न किया।

पुश्किन और इकबाल की रचनाओं में पूर्व-पश्चिम समन्वय

पुश्किन की साहित्यिक-रचनाओं के अध्ययनकर्ता बहुधा गेटे से इस महान रूसी कवि की तुलना किया करते हैं। यह भी सुविदित है कि इकबाल की तुलना आमतौर पर गेटे से की जाती है। इस प्रकार गेटे एक बार से इकबाल और पुश्किन के बीच संयोजक कड़ी बन गया है। इन दोनों रूसी और भारतीय कवियों का गेटे की रचनाओं के प्रति झुकाव गेटे की सार्वभौम प्रवृत्ति, जिस संस्कृति को उसने अभिव्यक्त किया उसके मानवीय अंश, पश्चिमी और पूर्वी संस्कृतियों के श्रेष्ठ अंशों को मिलाकर एक अखंड समष्टि की रचना—ये उनकी निजी विशेषताएं हैं। पूर्व में गेटे "···उस मानववादी संकल्पना के उद्गम की खोज करता है जो मानव-सम्मान को बनाकर उसकी मूर्ति बना देती है, और जो मानव-प्रेम को दार्शनिक-हाफ़िज़ अर्थ में विश्वव्यापी बना देती है, इसे हमारे संसार और हमारे जीवन का आधार···मनुष्य की मूल नैतिक शुद्धता का···आधार बताती है। गेटे के लिए पश्चिम का सर्वोच्च आध्यात्मिक मूल्य स्वतंत्र मानव की संकल्पना था, यानी ऐसा मानव जो सामाजिक बुराई और अमानुषिकता से मोर्चा लेता है।" गेटे का कहना है कि यह कहना ठीक नहीं है कि "पूर्व और पश्चिम की मानवतावादी, कलात्मक और नैतिक धारणाएं" एक ही समय में मौजूद रहती हैं – उसके अनुसार ये घुल-मिलकर एक अखंड सांस्कृतिक, साहित्यिक और कलात्मक संकर बन गए हैं। यह एक सचमुच एकीकृत विश्व संस्कृति की सूचक है। 'गेटे की साहित्य सृष्टि में जो यह पश्चिम पूर्व संश्लेषण हुआ है, वह यूरोप-केंद्रता तथा पूर्वकेंद्रतामूलक अलगाववाद इन दोनों औपनिवेशिक विचारों के विपरीत है, और संस्कृति के मानवीय तत्त्व पर आधारित है—आई० एस० ब्रैगिन्स्की ने कहा है कि 'इसी मानवीय तत्त्व से साहित्य के अध्येताओं को इसके उद्गम की और विश्व साहित्य के प्रक्रम के विकास की विभिन्न मंजिलों में इसके विविध रूपों की अभिव्यक्ति की खोज करने के आधार प्राप्त होते हैं। अन्य महान लेखकों, उदाहरण के लिए, बायरन, पुश्किन, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साहित्य-रचनाओं की विशेषता भी इस संश्लेषण की अभिव्यक्ति है। और मुहम्मद इकबाल का नाम भी इस सूची में जोड़ना उचित होगा।

गेटे की तरह, पुश्किन ने भी पूर्व की संस्कृति के प्रगतिशील और कला की दृष्टि से सार्थक अंश को पहचाना और उसका सामान्यकरण किया और इसमें जो

स्थायी वैचारिक और कलात्मक मूल्य था उसे पश्चिमी संस्कृति में सर्वोत्तम अंश से मिलाकर एक अखंड समष्टि बना दी।

पश्चिम-पूर्व संश्लेषण के अंश इकबाल के साहित्य में भी दिखाई देते हैं। अगर पुश्किन ने उसी तरह पूर्व की संस्कृति को आत्मसात् न किया होता जैसे इकबाल ने पश्चिमी संस्कृति को किया था तो यह संश्लेषण असंभव होता। पुश्किन की आरंभिक रचनाओं में वैसे ही पूर्वी अभिप्राय (कला रूढ़ियां) मिलते हैं, जैसेकि इकबाल की आरंभिक रचनाओं में पश्चिमी अभिप्राय। जैसे पुश्किन पूर्वी कविता की गहराई में उतर गया था और पूर्व को गहराई से समझ गया था, वैसे ही इकबाल ने पश्चिमी संस्कृति की बाहरी विशेषताओं के बजाय इसके गहरे तत्त्वों का वर्णन किया था।

इसी प्रकार जैसे दिसंबरियों के विद्रोह से ठीक पहले, पुश्किन ने पूर्वी अभिप्रायों और बिंबों में आग-भरी आध्यात्मिक दृढ़ता और निःस्वार्थ संघर्ष के उदाहरण खोजे थे जो, उदाहरण के लिए, उसकी कविता, "कुरान का अनुकरण" में प्रस्तुत किए गए हैं – वैसे ही इकबाल ने प्रगतिशील पश्चिमी विचारों को पूर्व की सांस्कृतिक परंपराओं के सर्वोत्तम मानववादी तत्त्वों के साथ घुला-मिलाकर एक अखंड समष्टि की रचना की। इकबाल "···बल देकर कहता है कि पश्चिम ही निर्धनों की बेड़ियां तोड़ना जानता है, वह पश्चिम के महान विचारकों—लियो टाल्सटाय, कार्ल मार्क्स, हेगल—की छायाओं को सजीव बना देता है।" गेटे की तरह, जिसने अपने दीवान में प्रसिद्ध साहित्यिक पात्रों का संग्रह किया था जिन्हें वह पूर्वी देशों की संस्कृति का प्रतीक मानता था, वैसे ही इकबाल ने अपनी कविता "मुर्गों का वार्तालाप" में यूरोप के विचारकों, वैज्ञानिकों और कवियों को वार्तालाप-कर्ता बनाया है जो उसके विचार में यूरोप के सच्चे स्वरूप के प्रतिनिधि हैं। इकबाल उस स्वरूप को विकृत करना नहीं चाहता और इसलिए वह लोगों की आंखें खोलने की कोशिश करता है, सत्य की पुष्टि और बुराई का पर्दा फाश करता है। उदाहरण के लिए, अपनी कविता 'एक पैगाम' में इकबाल उच्च मानवतावाद का पक्षधर बनकर आता है। इस प्रसंग में बरबस यह ध्यान आ जाता है कि पुश्किन ने भी अपनी रचना "कुरान का अनुकरण" में कवि के प्रगतिशील पक्ष के विचार की पुष्टि की है और सत्य, दया तथा न्याय का समर्थन किया है। इसमें युद्ध में हिम्मत न हारने, धोखा-धड़ी से दूर रहने, निष्ठापूर्वक सत्य के मार्ग पर दृढ़ रहने, अनाथों से प्यार करने और सब भयभीत लोगों को कुरान का उपदेश देने के लिए कहा है।

जैसाकि आई० एस० वेंगिन्स्की ने पुश्किन के बारे में कहा है : 'पुश्किन के पूर्व-पश्चिम संश्लेषण में कुछ बातें गेटे से मिलती-जुलती हैं, पर कुल मिलाकर वह सर्वथा अनुपम रचना है; यह शुद्ध रूप से पुश्किन का संश्लेपण है।' पूर्वी और पश्चिमी अभिप्रायों का समन्वय अखंड रिश्तों की विविधतापूर्ण अभिव्यक्तियों में से एक अभिव्यक्ति है जो पुश्किन और इकबाल दोनों की ही रचनाओं में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय का गठबंधन करती हैं।

परंपरा के प्रति इकबाल और पुश्किन का रुख

पश्चिम-पूर्व संश्लेपण की समस्या क्लासिकल विरासत के प्रति इकबाल के और पुश्किन के रुख से सीधे जुड़ी हुई है। इस प्रश्न के बारे में भी हमें उन समानताओं पर ध्यान देना चाहिए जो दोनों कवियों और गेटे में अक्सर दिखायी जाती हैं, यानी पुश्किन की और गेटे की निकटता के अर्थ में, प्राचीन क्लासिकी-प्रवृत्ति और पुरातन साहित्य की परंपराओं पर ध्यान देना चाहिए; क्या इन दो राष्ट्रीय प्रतिभाओं की साहित्यिक रचनाओं के बीच दिखाए गए सादृश्य को हम स्वीकार कर सकते हैं? पुश्किन ने अपने लिए सुलभ सारे विश्व साहित्य के अनुशीलन से लाभ उठाया और अपनी रचनाओं में विश्व साहित्य की अनेक अद्भुत उपलब्धियों में समन्वय कर डाला। 'यानी इस दृष्टि से पुश्किन के यथार्थवाद की निजी विशिष्टता संश्लेषण की असाधारण समृद्धता में ही निहित है; साथ ही, इससे वह परवर्ती रूसी साहित्य के उद्गम बन गए हैं', यह विचार डी० डी० एलगोह ने प्रकट किया है।

मेरी धारणा है कि जो बात यहां पुश्किन के लिए कही गयी है वही बात कुछ दूर तक इकबाल के बारे में भी कही जा सकती है। जनता की सांस्कृतिक विरासत के प्रति संकीर्ण राष्ट्रीय रुख रखना इकबाल को भी उतना ही अप्रिय था जितना पुश्किन को। इकबाल के अनुसार, क्लासकी विरासत न केवल अतीत के विलक्षण आध्यात्मिक और कलात्मक मूल्यों की ही बनी हुई थी, जो उसके देशवासियों की बनायी हुई थी, बल्कि मानव जाति के सांस्कृतिक विकास के दौरान संचित सर्वोत्तम मूल्यों का संग्रह भी थी। उसने लोगों का आह्वान किया कि प्रजातीय, धार्मिक और साम्प्रदायिक अंतर्विरोधों का त्याग करें और मानव जाति की एकता के गीत गायें—

"हम न अफ़गान हैं, न तुर्क हैं, न तातार हैं
हम एक बगीचे में एक ही घेरे में जन्मे हैं
हमारे बीच सारे भेदभाव निषिद्ध हैं
क्योंकि हम एक ही चश्मे की धाराएं हैं।"

(पयामे मशरिक़)

रूमी और हाफ़िज़ की कविता से, सारी ही फ़ारसी क्लासिकल कविता से, इस्लाम के विचारों और बिंबों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए, साथ ही साथ, इकबाल ने भारतीय सांस्कृतिक विरासत को धार्मिक स्वीकारोक्तियों के झरोखों में खड़े होकर नहीं देखा। उसने इस्लाम और हिंदू दोनों धर्मों से आये आध्यात्मिक और सौंदर्यात्मक खज़ानों से सामग्री ली। इकबाल की रचनाओं के अनेक अनुसंधान-कर्ताओं ने भारत की सांस्कृतिक परंपराओं के प्रति उसके व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण का संकेत किया है, जैसे उदाहरण के लिए, डा० प्रभाकर माचवे ने अपने लेख 'इकबाल की मानव संबंधी अवधारणा' में बड़ी अच्छी रीति से यह दिखाया है कि इकबाल ने अपनी कविता में सूफ़ी और वेदांती विचारों का समन्वय करके उसे एकात्म रूप दे दिया है।

पुश्किन की तरह, इकबाल ने भी सांस्कृतिक विरासत के प्रति सृजनात्मक रवैया रखा है और परंपरागत बिंबों को नयी सामग्री से भर दिया है—इस कार्य में उसने सबसे पहले उन तत्त्वों का उपयोग किया है, जो ज़माने के साथ सबसे अधिक मेल खाते थे। इस दृष्टि से इकबाल की साहित्यिक कृतियां, रवींद्रनाथ ठाकुर की कृतियों की तरह उन लेखकों के लिए निर्देशबिंदु बन गयीं। जिन्होंने भारतीय जनता के नये साहित्य की नींव रखी। उदाहरण के लिए, अविच्छिंन रूप से चिरंतन विकासशील जीवन के विचार को रवींद्रनाथ नज़रुल इस्लाम और निराला की तरह इकबाल ने भी कभी-कभी किसी पर्वतीय जलधारा के बिंब से प्रकट किया है जो अपने मार्ग की सब बाधाएं धकेल कर परे कर देता है। एन० आई० प्रिगेरिना ने लिखा है : 'कुछ अध्ययनकर्ता इकबाल के पर्वतीय जलधारा के बिंब के उपयोग को गेटे की कविता के एक प्रिय मोटिफ़ (अभिप्राय) से जोड़ते हैं।' अपने संग्रह बांग-ए-दारा में इकबाल ने लिखा है : "जलधारा पर्वतशिखर से गीत गाती हुई आती है।"

इकबाल की और पुश्किन की कविताओं में बहुत सी वैचारिक और कलात्मक भिन्नता होते हुए भी इकबाल की इन पंक्तियों में और पुश्किन की इस उक्ति में कुछ संबंध लक्ष्य किया जा सकता है जिसमें वह कहता है कि यौवन का उल्लास, तेज़ और विद्रोही निर्झर उबल रहा है, भाग रहा है, चम-चम करता गुनगुना रहा है।

पुश्किन ने प्रेम की उच्च भावना को गौरवान्वित किया और उसकी ही तरह इकबाल भी प्रेम को जीवन का मुख्य सारतत्त्व, भव्यतम और महान का मूलतत्त्व मानता था। "प्रेम के पदचिह्नों का अनुसरण करो क्योंकि प्रेम ही अपने कर्त्तव्य कर्म का परिपूर्ण ज्ञान रखता है", यह उद्‌गार इकबाल ने प्रकट किया है। प्रेम के सर्वजयी बल पर अपनी आस्था प्रकट करते हुए प्रेम की यह सूफ़ियों वाली

परिभाषा ही इनमें बरबस दिखायी पड़ती है कि वह जीवन की चिर-प्रज्वलनशील अग्नि है।

इकबाल और पुश्किन की रचनाओं में रोमांटिक (स्वच्छंदतावादी) और यथार्थवादी स्वर

इकबाल की रचनानिधि का विषय बड़ा जटिल है पर इसकी गहरी छानबीन भी नहीं हुई है। चूंकि अपने निष्कर्षों के पक्ष में आवश्यक सारे तर्कों को पूरी तरह सिद्ध और प्रस्तुत करना यहां असंभव है, इसलिए मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूं कि हमारे दृष्टिकोण से, इकबाल की तथा अन्य बहुत से भारतीय लेखकों की और सारे ही नये तथा नवीनतम भारतीय साहित्य की व्यापक विशेषता स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद की जटिल परस्पर क्रिया है। अपने चारों ओर की दुनिया के साथ मानव की एकता की सराहना में, गयी-गुज़री सामाजिक अवस्थाओं के साथ संघर्ष में उतरते व्यक्ति के वर्णन में, मनुष्य के आध्यात्मिक जगत्, जनता की भावना में दिलचस्पी को प्रेम को जीवन का सारतत्त्व बताकर इसे गौरवान्वित करने के कारण इकबाल स्वच्छंदतावादी रूप में उभरते हैं। डी० डी० एलागोई ने इस बात की चर्चा की है कि स्वच्छंदतावाद व्यक्ति के अपनी ओर ध्यान खींचने के अधिकार को मान्यता देता है—यह विशेषता पुश्किन में भी दिखाई देती है।

फिर भी, इकबाल के स्वच्छंदतावाद का अर्थ संसार का निष्क्रिय चिंतन-मनन बिलकुल नहीं है; यह एक स्पष्टतः सक्रिय क्रिया है और इसका सर्वोत्तम बाह्य रूप क्रांतिकारी है। इस दृष्टि से यह भी पुश्किन के स्वच्छंदतावाद का नज़दीकी है। इकबाल की परंपरा खाली मानवतावादी नहीं थी…उसका स्वरूप क्रांतिकारी था…वह गतिशीलता और ओज का कवि था, परिवर्तन शून्यता और जड़ता का नहीं, यह विचार ए० ए० इंजीनियर ने ठीक ही प्रकट किया है।

इकबाल ने अपने चारों ओर के जीवन में गहरे पैठने के, समसामयिक जगत् में मानव की भूमिका को पूरी तरह समझने और मानव जाति के सारे इतिहास की छानबीन करने के जो प्रयत्न किए, उनके कारण उनकी साहित्यिक रचनाओं में यथार्थवादी प्रवृत्तियां पैदा हो गईं। इसी प्रकार पुश्किन ने स्वच्छंदतावादियों के एक पक्षीय वस्तुनिष्ठतावाद को जैसे-तैसे नियंत्रित करके रखा, और असली जीवन का कवि बन गया—जीवन जैसा वास्तव में था—इस तरह वह यथार्थ का कवि बन गया—अपने बारे में उसकी अपनी ही परिभाषा बन गयी। डी० डी० ब्लैगोइ का यह कथन कि पुश्किन की रचनाओं में अपने चारों ओर की वस्तुनिष्ठ यथार्थता को पूरी तरह समझने की उसकी आवश्यकता लक्ष्य की जा सकती है – उसका समसामयिक मनुष्य की भेदक विशेषताओं और लक्षणों का वर्णन करने का

प्रयास—उस मनुष्य की जिस पर अपने युग की छाप है, कुछ दूर तक इकबाल पर भी लागू हो सकता है। इस 'आवश्यकता' के ही कारण इकबाल की रचनाओं में यथार्थवादी तत्त्वों का विकास हुआ।

पुश्किन की तरह इकबाल की महानता का आधार भी इस तथ्य पर है कि वह अपने देशवासियों के चरित्र की सामान्य विशेषताओं को विलक्षण काव्यरूप दे सका और उन्हें प्रकट कर सका, और उनके भीतरी जगत् की गहराई से छानबीन कर सका। रूस में पुश्किन की तरह इकबाल अपने देश में एक सच्चा जनता का कवि बन गया और उसने जनता के विचारों, भावनाओं और भावों को अभिव्यक्ति दी। मानव के उच्च और भव्य चरित्र को प्रतिफलित करते हुए इकबाल, पुश्किन की तरह, अपने देशवासियों के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में वृद्धि करता है। उसकी काव्य-रचनाएं पुरानी नहीं पड़ी हैं और न कभी पड़ेंगी। वे पाठक पर गहरा प्रभाव डालती हैं, आत्मा में प्रवेश कर जाती हैं, भावों को उद्‌बुद्ध कर देती हैं। पुश्किन ने कहा था कि "सच्चे कवियों की रचनाएं ताजा और चिर-युवा रहती हैं।" ये शब्द स्वयं पुश्किन पर अच्छी तरह लागू होते हैं और इकबाल पर भी।

"जिस बल ने पुश्किन को हमारा इतना प्रिय बनाया वह उसके पद्यों का बल है—ये पद्य बचपन से हमारे साथ रहे और वे हमारे इस तरह अंग बन गए हैं कि हम बिना इस बात पर ध्यान दिए, अक्सर अपनी जन्मभूमि और उसके स्वरूप, प्रेम और सुख-दुःख भरे जीवन के बारे में पुश्किन के गीति-काव्य के शब्दों और बिंबों में सोचते हैं, यह विचार मेइलैख ने प्रकट किया है।

जैसे रूसी लोगों के दिलोदिमाग पर पुश्किन की कविता छा गयी है उसी प्रकार इकबाल के देश के लोग जीवन के विभिन्न अवसरों पर अपने प्रिय कवि की कविता दोहराते हैं। इकबाल की पंक्तियां न केवल मुशायरों और साहित्य सम्मेलनों में बल्कि रोजमर्रा के जीवन में भी उनके देशवासियों द्वारा दोहरायी जाती सुनाई देती है, जैसे मानो वे उनमें अपनी बात का सहारा ढूंढते हों, उनके द्वारा अपने ही अत्यन्त प्रिय विचार भावनाएं और मनोवस्थाएं प्रकट करते हों। इस प्रसंग में इकबाल के समकालीन, सहयोगी और विलक्षण भारतीय लेखक प्रेमचन्द पर नजर डालना दिलचस्प होगा जो इकबाल की कविता से सुपरिचित थे और उसे ऊंचा स्थान देते थे तथा प्यार करते थे। अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द-कलम का सिपाही' में लेखक के पुत्र अमृत राय ने बताया है कि प्रेमचन्द इकबाल की कविता को "उच्च समकालीन साहित्य—एक ऐसा साहित्य जो जनता की नियति का निर्माता होता है." मानते थे।

"मुंशी प्रेमचंद को इकबाल से बड़ा प्यार था", अमृत राय ने लिखा है। "जब वे अपने शब्दों को अधिक सारवान् और सार्थक बनाना चाहते थे तब वे

इकबाल पर नज़र डालते थे ।"

इकबाल की कविता के कुछ अंश जो इस पुस्तक में उद्धृत हैं, जो मुंशी प्रेमचंद सुनाया करते थे, और जो उनके अपने विचारों और मनोवस्थाओं से तालमेल रखते थे, बड़े विशिष्ट हैं।

"मेरे जीवन में परेशानियां हैं, जैसे उच्छल तरंगें।
पर यह मत समझो कि मैं किनारा तलाश रहा हूं।"

प्रेमचंद को मनुष्य की सर्वजयी शक्ति के विचार से बड़ी प्रेरणा मिली थी जो इकबाल की कविता में इतने विविध और सजीव रूप में व्यक्त हुई थी। यह दिखाते हुए कि यौवन उच्च आदर्श साहस और निःस्वार्थता की अवधारणाएं इकबाल की पंक्तियों के द्वारा प्रकट की जा सकती हैं, प्रेमचंद ने लिखा था कि उनकी दीवानगी के रेगिस्तान में जवरायल एक तुच्छ-सा बलिदान था और रस्सी के फंदे के साहसपूर्ण संकल्प के लिए आह्वान किया।

सब लोग जानते हैं कि इकबाल ने स्वयं प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन और हलचलों में कोई हिस्सा नहीं लिया था। लेकिन उनकी कविताओं ने बहुत से प्रगतिशील भारतीय कवियों को प्रेरणा दी, उनके साहित्य-सृजन में, उनके राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष में एक तरह के मार्ग दर्शक का कार्य किया।

साहित्य में, जिससे युग के प्रमुख विचार प्रकट होने चाहिए, मूलभूत परिवर्तनों की आवश्यकता पर बोलते हुए प्रेमचंद ने आग्रह किया था कि भावुकता-भरे साहित्य की ज़रूरत नहीं है। आपने कहा था कि उस कला की ज़रूरत है जो कर्त्तव्यबोध की बात करे। इकबाल के साथ वे भी यह मानते थे कि जीवन के रहस्यों की खोज आग में करनी चाहिए और कि समुद्र में विश्राम करना नदी की तौहीन करना है, और उड़ने का आनन्द कवि को अपने घोंसले में नहीं बैठा रहने देगा, कि वह कभी फूल के तने पर और कभी नदी के किनारे पर होगा।

इकबाल और पुश्किन से आरंभ होतीं परंपराएं

"पुश्किन के बारे में लिखने का अर्थ है सारे रूसी साहित्य के बारे में लिखना," यह विचार महान रूसी समीक्षक वी० जी० बेलिंस्की ने सौ साल से भी अधिक पहले प्रकट किया था और इस प्रकार उसके पूर्ववर्ती सारे रूसी साहित्य के साथ उसके अभिन्न संबंधों पर बल दिया था। इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए बी० मईलख ने लिखा है: "आज पुश्किन के बारे में लिखने का अर्थ न केवल उसके पूर्ववर्तियों के बारे में लिखना है, बल्कि उसकी परंपरा आगे बढ़ाने वालों और उन लोगों के बारे में लिखना है जिन्होंने पुश्किन की चिरजीवी परंपराओं का विकास किया, जो नवीनता-जनक लेखक के रूप में अन-खोजी राहों पर पुश्किन की ही दिखाई हुई दिशा में आगे बढ़े।" न केवल साहित्य में, बल्कि

हमारे सारे ही बहुजातीय सोवियत साहित्य में पुश्किन से आरंभ परंपराओं के क्षेत्र में अनुसंधान करना बहुत समय से सोवियत साहित्यिक अध्ययन की एक मुख्य प्रवृत्ति बन चुका है। हमारे अनुसंधानकर्ता पुश्किन के कलात्मक विधान के बुनियादी सिद्धांतों के विकास और पुष्टि के सूत्र हमारे देश की जातियों के साहित्य की अविच्छिंन प्रगति में दिखाने का यत्न करते हैं। सोवियत पुश्किन विद्वान् यह निरूपण करते हैं कि लेमोंवोव, नेक्रासोव, मायकोवस्की जैसे उत्कृष्ट कवियों के साथ-साथ, जो पुश्किन की परंपरा के सच्चे ध्वजाधारी हैं और जिन्होंने जीवन की पुकार पर दृढ़ रहते हुए, अपने युग की वाणी को ध्यान से सुनते हुए, मानव के अंतर्जगत का उद्घाटन किया और रूसी कविता की नयी संभावनाओं के कपाट खोले, कुछ नकलची कवि भी हुए जिन्होंने पुश्किन की कविता के रूप और सामग्री का ऊपरी अनुकरण मात्र कर लिया और ऐसे साहित्यकार भी हुए जिन्होंने उसके साहित्य और दृष्टिकोण की मनमाने तरीके से व्याख्या करते हुए पुश्किन की भावना को विकृत किया।

जो बात यहां महान रूसी कवि के बारे में कही गई है, वही इकबाल के बारे में बहुत अच्छी तरह लागू होती है। इकबाल की परंपराओं की समस्या इस समय अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनती जा रही है। कभी-कभी हम न जाने क्यों अपने समकालीन किसी लेखक की पूरी महानता स्पष्ट रूप से नहीं देख पाते और उसकी मृत्यु के काफी समय बाद हम उसके गुणों का पूरा मूल्यांकन कर पाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण साहित्य में उसका स्थान, साहित्य के विकास में उसकी देन, समझने में मदद देता है। इकबाल की मृत्यु के बाद जितना अधिक समय बीतता गया है, उतना ही अधिक स्पष्ट और ठोस उसका योगदान दिखायी देने लगा है—यह योगदान न केवल उर्दू और फारसी भाषाओं के साहित्यों को बल्कि भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों के संपूर्ण साहित्य को हुआ हैं; साहित्यिक प्रक्रम के और अधिक विकास पर उसका प्रभाव, अनेक कवियों—उसके शिष्यों और अनुयायियों—के साहित्यिक प्रयत्नों में उसकी प्रेरणा दिखाई देती है। इस प्रकार इकबाल की परंपरा की समस्या न केवल सैद्धांतिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण रूप ले रही है, बल्कि सारे ही समसामयिक भारतीय साहित्य के विकास में साहित्यिक कार्यरीति की एक मार्मिक महत्त्व की समस्या है। इकबाल के प्रभाव को इसके उर्दू कविता पर पड़े प्रभाव तक ही सीमित नहीं माना जा सकता, के० ए० इंजीनियर का यह विचार ठीक ही है। इकबाल की साहित्य-रचना के इस अध्ययनकर्ता ने, हमारे विचार से, इकबाल की परंपराओं की विषयवस्तु और स्वरूप निर्धारित करने का तथा समसामयिक उर्दू साहित्य में उनका विकास दिखाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। मेरा विश्वास है कि इकबाल विषयक अध्ययन की यह प्रवृत्ति भविष्य की बड़ी संभावनाओं से पूर्ण है, ठीक वैसे ही

जैसे पुश्किन के साहित्य के अध्ययन और विकास की समस्या सोवियत साहित्यिक अध्ययन में एक प्रमुख स्थान रखती है।

इकबाल की और पुश्किन की साहित्यिक रचनाओं में समानता देखते हुए और उनमें एक प्ररूपात्मक वैज्ञानिक समरूपता खोजते हुए हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि ऐसे भिन्न दो कवियों में हम कोई प्रत्यक्ष सादृश्य कायम करें। पुश्किन के कला-जगत् की तरह इकबाल का कला जगत् विशिष्ट, अनुपम और निजी है और इसी बात में इनकी सबसे बड़ी महानता निहित है। साथ ही, अपने जमाने की सबसे अधिक प्रगतिशील प्रवृत्तियां प्रकट करते हुए इकबाल पुश्किन से बहुत-सी बातों में समान हैं—अपने जमाने में पुश्किन के सामने वैसे ही काम और समस्याएं थीं जैसे इकबाल को अपनी साहित्य रचनाओं में संभालनी पड़ीं।

पुश्किन और इकबाल में एक समानता यह भी है कि दोनों ही अपने-अपने समकालीन जगत् में बड़े लोकप्रिय हुए। उनकी रचनाएं विश्व साहित्य भंडार का हिस्सा बन गई हैं, उनकी रचनाओं के अनेक भाषाओं में अनुवाद हो रहे हैं और बड़े-बड़े संस्करण निकल रहे हैं। भूमंडल के दूर-दूर के कोनों में उनका गुणगान हो रहा है और विभिन्न देशों में वे लोगों को आंदोलित कर रही हैं। यही इन महान कवियों की शक्ति और अमर कीर्ति है।

सोवियत संघ में प्रेमचंद

सोवियत संघ में प्रेमचंद शताब्दी समारोह बड़े पैमाने पर मनाया गया। महान भारतीय लेखक के कृतित्व को भविष्य में और अधिक लोकप्रिय बनाने और उसके अनुसंधान को और अधिक महानता प्रदान करने से संबंधित विस्तृत कार्य-क्रम को व्यावहारिक रूप दिया गया।

टैगोर के बाद प्रेमचंद निश्चय ही सोवियत संघ में सर्वाधिक लोकप्रिय और विस्तृत रूप से विख्यात लेखक हैं। इसके प्रमाण के लिए केवल उस बड़े कार्य का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा जो उनकी रचनाओं के अनुवाद और प्रकाशन तथा उनके कृतित्व के संबंध में हमारे देश में किया जा रहा है। अलग-अलग पुस्तकों के रूप में हमारे देश में प्रेमचंद की रचनाएं तीस से अधिक बार छप चुकी हैं और उनकी प्रति संख्या 15 लाख से अधिक है।

हमारे देश में अकादमीशियन अ० प० वरान्निकोव ने ही सबसे पहले प्रेमचंद की ओर ध्यान दिया और उनका अध्ययन तथा उन्हें लोकप्रिय बनाने का कार्य आरंभ किया। प्रेमचंद के जीवन काल में 1927 में ही अ० प० वरान्निकोव ने प्रेमचंद द्वारा हिंदी में अनूदित टोलस्तोय की कहानियों की समीक्षा प्रकाशित की। सोवियत विद्वान ने अपनी समीक्षा में यह ठीक ही लिखा था कि भारतीय लेखक द्वारा महान रूसी लेखक के साहित्य की ओर ध्यान देने का एक कारण यह था कि 'उपनिवेश विरोधी तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के पक्ष में जिसने तीसरे दशक में भारत में बड़ा पैमाना तथा व्यापक रूप ग्रहण कर लिया था, समर्थन प्राप्त कर सकें।' अ० प० वरान्निकोव ने आगे कहा है कि—"प्रेमचंद की रचनाओं के अध्ययन से हमें यह विश्वास हो जाता है कि उन पर टोलस्तोय के विचारों का गहरा प्रभाव था।"

अ० प० वरान्निकोव ने 1937 में प्रेमचंद की कहानी संग्रह 'सप्त सरोज' का विश्लेषण तथा उनकी कुछ कहानियों का रूसी अनुवाद प्रकाशित किया। अकादमीशियन वरान्निकोव ने लिखा—"प्रेमचंद न केवल श्रेष्ठ और नवीन शैली के धनी हैं जिसे उन्होंने सबसे पहले अपनाया है, बल्कि भारतीय साहित्य के लिए

एक नई विधा सामाजिक कहानी की विधा में जिसमें सामाजिक तत्त्वों को बड़ी मनोवैज्ञानिक गहनता से उभारा गया है कलात्मक पारंगतता प्राप्त की है।" सोवियत विद्वान ने अपने समय में प्रमुखतम भारतीय लेखक के सृजनात्मक ढंग, भाषा और शैली के बारे में अनेक दिलचस्प निष्कर्ष निकाले। उन्होंने प्रेमचंद की चेखोव से भी तुलना की। "चेखोव की भांति उन्होंने लिखा—प्रेमचंद किसी भी रूप में विशेष महत्त्व न रखने वाले सामान्य लोगों को साधारण, हर दिन के नीरस वातावरण में प्रस्तुत करते हैं और इसी लिये आधुनिक भारत विशेषत: भारतीय गांव को खोखला करने वाले फोड़े अधिक स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आते हैं। अपने इर्दगिर्द की वास्तविकता को यथार्थवादी ढंग से चित्रित करने के प्रेमचंद के प्रयास पर बल देते हुए अ० प० वरान्निकोव ने लिखा—"इस तरह के सूक्ष्म मनोविज्ञान से परिपूर्ण ऐसे यथार्थवाद से हिंदी साहित्य सम्भवत: पूरा भारतीय साहित्य ही अपरिचित था।"

प्रेमचंद के बारे में अ० प० वरान्निकोव द्वारा व्यक्त किये गए एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार की ओर हम आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। सोवियत विद्वान ने बहुत ही उचित रूप से प्रेमचंद की रचनाओं की पश्चिम के अग्रणी यथार्थवादी लेखकों के कृतित्व के साथ समानता का उल्लेख किया है। ऐसी समानता इस चीज के परिणामस्वरूप सामने आई कि भारत के सामाजिक राजनीतिक जीवन में ऐसी प्रकृतियां प्रकट हुई जिन्होंने अपने समय में पश्चिमी देशों के साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद को जन्म दिया।

सोवियत संघ में प्रेमचंद संबंधी अ० प० वरान्निकोव के उपर्युक्त प्रारंभिक लेखों के प्रकाशन के बाद अब तक आधी शताब्दी से अधिक समय बीत चुका है। तोलस्तोय या चेखोव के साथ प्रेमचंद की तुलना से सहमत हुआ जाए या न हुआ जाए फिर भी महान भारतीय लेखक के बारे में सोवियत प्राच्यविद्या के जन्मदाता द्वारा किये गए कुछ विचार और अनुसंधान हमें आज भी पर्याप्त रूप से फलप्रद और दिलचस्प प्रतीत होते हैं।

हमारे देश में प्रेमचंद की साहित्यिक विरासत के अध्ययन और उसकी गहराई में पैठने का काम वरान्निकोव के शिष्यों ने जारी रखा। इसी संबंध में व० बे० स्कोल्नी द्वारा प्रेमचंद के 'संग्राम' नाटक के बारे में पांचवें दशक में प्रकाशित दिलचस्प लेख का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता। इस लेख में भारत के मुक्ति संघर्ष के साथ लेखक के घनिष्ठ संबंध और इस बात पर जोर दिया गया है कि उन्होंने अपने कृतित्व में भारतीय जनता की राष्ट्रीय और वर्गगत चेतना को प्रतिबिंबित करने का प्रयास किया है और यह भी कि उस समय प्रेमचंद गांधीवाद के विचारों के प्रभाव में थे।

हमारे देश में प्रेमचंद के कृतित्व के अध्ययन और उसके प्रचार कार्य में 7वें-

8वें दशक में विशेष तीव्रता उस समय आई जव हमारे यहां भारतीय साहित्य के अनुवाद और अनुसंधान के लिए सुयोग्य लोग तैयार हो गये। इस समय तक प्रेमचंद की साहित्यिक विरासत के अधिकांश भाग का रूसी तथा सोवियत संघ की अन्य भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उनके 'गोदान', 'गबन', 'निर्मला', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' उपन्यास तथा उनकी सर्वश्रेष्ठ दर्जनों कहानियां एवं साहित्य समीक्षा और विविध अन्य विषयों से संबंधित प्रचार लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रेमचंद की साहित्य-विरासत के बारे में हमारे यहां पी० एच० डी० की उपाधि के लिए प० ग्लादीकोव ने 'प्रेमचंद के चित्रण में भारतीय गांव' तथा व० बालिन ने 'प्रेमचंद कहानीकार' दो शोधप्रबंध लिखे। व० बालिन ने प्रेमचंद के कृतित्व के अनुसंधान से संबंधित कई लेख प्रकाशित करवाए। उदाहरण के लिए 'प्रेमचंद और उनके प्रेमाश्रम' तथा 'गोदान' उपन्यास (1958) और 'प्रेमचंद के सृजन पथ का आरंभ और सोजेवतन कहानी संग्रह' (1962)। पहले लेख में हिंदी और उर्दू साहित्य के विकास में प्रेमचंद के कृतित्व का स्थान निर्धारित करने, इस साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद के विकास में उनकी भूमिका दिखाने तथा प्रेमचंद के वैचारिक सौंदर्यबोधात्मक दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रेमाश्रम उपन्यास का विश्लेषण करते हुए व० बालिन ने प्रेमचंद की गहन असंगतियों का उल्लेख किया है जो उस समय के भारतीय यथार्थ की ठोस परिस्थितियों का परिणाम थीं। उन दो प्रवृत्तियों की ओर ध्यान दिया है जो इस उपन्यास में घनिष्ठ रूप से घुलमिल गई हैं। ये प्रवृत्तियां हैं भडा-फोड़क और समझौतावादी। 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' उपन्यासों की तुलना करते हुए व० बालिन ने लिखा है—"इन दोनों रचनाओं को एक-दूसरे के सामने रखने से इस बात की कल्पना करना संभव हो जाता है कि कैसे लेखक ने अपने भूतपूर्व आदर्शवादी और सुधारवादी दृष्टिकोणों से इंकार किया, कैसे उनका वैचारिक धरातल और कलात्मक पारंगतता में निखार आया।"

व० बालिन ने प्रेमचंद के मानवतावाद की प्रकृति का भी विश्लेषण किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि उनके मानवतावादी लक्ष्य हमेशा ही स्पष्ट सामाजिक यहां तक कि वर्गगत सार से ओतप्रोत हैं और उनका पीड़ित नायक सामाजिक अन्याय का शिकार है। प्रेमचंद के पहले कहानी संग्रह के बारे में जिसे, जैसा कि सर्वविदित है उपनिवेशिक सेंसर ने जब्त कर लिया था, व० बालिन का लेख भी काफी दिलचस्प है। 'उनका पहला कहानी संग्रह' बालिन ने लिखा है—"नये ढंग के ऐसे साहित्य के विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण है जो सक्रिय रूप से जीवन में पैठता है, उच्च सामाजिक आदर्शों का प्रचार करता है।" व० बालिन ने 1973 में 'कहानीकार प्रेमचंद' पुस्तक प्रकाशित की जो प्रेमचंद के कृतित्व की

इस दिशा के अध्ययन से संबंधित, उनके अनेक वर्षों के श्रम का निचोड़ है।

इन पंक्तियों के लेखक ने भी अपने समय में प्रेमचंद के कृतित्व और जीवन-दृष्टिकोणों से संबंधित अनुसंधान के बारे में कई लेख प्रकाशित किए थे। इनमें से मैं प्रेमचंद के सौंदर्य-बोधात्मक विचारों के बारे में 1964 में प्रकाशित लेख का उल्लेख करना चाहता हूं। इस लेख में समाज के जीवन में प्रेमचंद के दृष्टिकोणों पर विचार और प्रेमचंद की रचनाओं में जनवाद की समस्या का अनुसंधान किया गया है, लेखक की रचना विधि की समस्या उठाई गयी है, उनके कृतित्व में उच्च सिद्धांतों का प्रश्न प्रस्तुत किया गया है, साहित्य और कला में प्रकृति और सौंदर्य के रूप के बारे में प्रेमचंद के भावों का विश्लेपण किया गया है। 1963 में प्रकाशित मेरे लेख 'भारत के आधुनिक साहित्य में मानवतावादी प्रवृत्तियां' में प्रेमचंद के मानवतावाद के विकासक्रम की चर्चा की गयी है। प्रेमचंद पर गोर्की के कृतित्व के प्रभाव का 1968 में प्रकाशित मेरे लेख 'गोर्की और भारतीय साहित्य' में विवेचन किया गया है। 1968 में ही प्रकाशित मेरी पुस्तक 'हिंदी साहित्य' में एक अध्याय प्रेमचंद को समर्पित है। बहुजातीय भारतीय साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद की स्थापना के बारे में प्रेमचंद की भूमिका संपूर्ण भारतीय साहित्यिक प्रक्रिया में उनके स्थान के बारे में मैंने 'भारत की सांस्कृतिक एकता और अखिल भारतीय साहित्यिक प्रक्रिया' लेख (1972) में अपने विचार प्रकट किए हैं। 'प्रेमचंद की परंपराएं' 'लेख (1977) में ताशकंत में प्रकाशित मेरी पुस्तक 'संस्कृति, शांति, प्रगति' में सम्मिलित हैं और 'आधुनिक भारतीय साहित्य' पुस्तक में भी, जो इस समय मास्को में छप रही है, स्थान दिया गया है। इस लेख में मैंने इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया है कि प्रेमचंद की साहित्यिक विरासत पुरानी क्यों नहीं पड़ रही ? प्रेमचंद के करोड़ों देशवासी आज उन्हें क्यों प्यार करते हैं ? हम उन्हें भारतीय साहित्य के क्लासिक क्यों मान सकते हैं ? सोवियत संघ में प्रेमचंद के साहित्य की अत्याधिक लोकप्रियता का क्या कारण है ?

हमारे विचार में सर्वप्रथम तो इसलिए ऐसा है कि प्रेमचंद की रचनायें भारतीय जनता के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक युग भारत में राष्ट्रीय मुक्ति के व्यापक जन आंदोलन के युग का एक सच्चा शब्दकोश है। अपने समय में फ्री० एंगेल्स ने लिखा था कि महान फ्रांसीसी गद्यकार बाल्जाक के उपन्यासों ने उन्हें फ्रांस में पूंजीवादी युग के संबंधों के रूप ग्रहण करने के समय के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की अनेक विषमताओं को फ्रांसीसी विद्वानों, अर्थशास्त्रियों, इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों की इस समस्या को समर्पित कृतियों से अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता दी। मुझे लगता है कि प्रेमचंद के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है जिनकी रचनाएं भारतीय ग्राम जीवन के सभी पात्रों को इतने

गहन रूप में उभारती हैं। कोई ऐसी अनुसंधान कृति ढूंढ़ पाना कठिन है जिसमें भारतीय जनता की जागृति का इतना सजीव और प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया हो जितना प्रेमचंद अपने उपन्यासों और कहानियों में कर पाए हैं और जिनमें यह दिखाया गया है कि कैसे भारत के जनसाधारण अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता और स्वाधीनता के संघर्ष पथ पर अग्रसर होते हैं।

अपने इर्द-गिर्द के यथार्थ का चित्रण करते हुए प्रेमचंद औपनिवेशिक शिकंजे में जकड़े और मध्ययुगीन पूर्वाग्रहों के पंजे तले दबे अपने देशवासियों की दुखद स्थिति के वर्णन तक ही अपने को सीमित नहीं रखते। उनकी रचनाएं उन सभी चीजों के प्रति घृणा पैदा करती हैं जो व्यक्ति को सुखी और प्रफुल्ल जीवन बिताने में बाधक होती हैं, उसकी गरिमा का अपमान करती हैं। जैसा कि सर्वविदित है, प्रेमचंद के मानवतावाद के बारे में बहुत कुछ कहा और लिखा जाता है और ऐसा करते समय उसके विकासक्रम की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया जाता और जो भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के विकास की विशिष्ट परिस्थितियों से निर्धारित होता है। सुधारवादी विचार मुख्यतः प्रेमचंद की प्रारंभिक रचनाओं में पाए जाते हैं। ये अन्य बातों के अलावा आदर्शवादी नायकों के बिंबों में प्रकट होते हैं जो लेखक के मतानुसार जीवन को बेहतर बना सकते हैं, समाज का ढांचा बदल सकते हैं। प्रेमचंद की प्रारंभिक रचनाओं में व्यक्त किए गए सामाजिक आदर्शों की अस्पष्टता और धुंधलेपन के बावजूद उस समय भी उनके मानवतावाद के महत्त्वपूर्ण लक्षण थे, अभागे और शोषित जनसाधारण के प्रति सहानुभूति और सद्भाव, उनके दुख-दर्द को कम करने का तीव्र प्रयास, सामाजिक त्रुटियों, दोषों और सर्वप्रथम तो सामाजिक अन्याय की आलोचना। प्रेमचंद का मानवतावाद गोर्की के सक्रिय मानवतावाद के निकट आ जाता है जो मानव के सुख सौभाग्य, मानव के उत्थान प्रयास की पूर्वकल्पना करता है, उनमें व्यक्तिगत गरिमा, अपने और सभी लोगों के भाग्य के लिए उत्तरदायित्व की भावना पैदा करता है। उसे भलाई, सचाई और न्याय के लिए संघर्षशील बनाता है।

उत्पीड़न, हिंसा, शोषण और क्रूरता का बोलबाला रहेगा। यह लेख मानो प्रेमचंद के मानवतावाद के विकास की तर्कसंगत पराकाष्ठा है जिसे भारत के अनेक अग्रणी लेखकों ने उत्तराधिकार में पाया और नई परिस्थितियों में इसका विकास किया।

हमारे मतानुसार प्रेमचंद के मानवतावाद के इसी विकासक्रम में भारतीय लेखक पर गोर्की के कृतित्व और जीवनदृष्टि का सद्प्रभुत्व दिखाई देता है। प्रेमचंद और गोर्की की तुलना की समस्या बहुत पहले से ही अनेक अनुसंधान-कर्ताओं का ध्यान आकृष्ट कर चुकी है। इसी संबंध में मैं भारतीय साहित्यकार मदनलाल 'मधु' की इस विषय पर कुछ ही समय पहले मास्को में प्रकाशित हुई 'गोर्की और प्रेमचंद दो अमर प्रतिभाएं' शीर्षकवाली दिलचस्प पुस्तक का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकता। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचंद पर गोर्की के प्रभाव की समस्या का समाधान ढूंढते समय हमें गोर्की के संबंध में व्यक्त किए गए प्रेमचंद के उद्गारों को आधार नहीं बनाना चाहिए, यद्यपि वे बहुत महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प है। इसी भांति हमें उनकी रचनाओं में पाठ और चित्रण वर्णन की समानताएं ढूंढने, मिलते-जुलते बिंब और स्थितियां एवं सादृश्यताएं खोजने का प्रयास नहीं करना चाहिए अर्थात् उन सब कुछ के फेर में नहीं पड़ना चाहिए जो सतही विश्लेषण के परिणामस्वरूप आसानी से देखा जा सकता है। इस प्रकार की सीधी-सादी तुलना से ऐसे भारतीय लेखक के रचनात्मक रूप के बारे में बड़ी विकृत धारणा बन सकती हैं जो मौलिक और दिलचस्प हैं और जिसकी रचनाएं राष्ट्रीय विलक्षणता लिए हुए हैं। हमारी दृष्टि में गोर्की का प्रभाव सर्वप्रथम तो प्रेमचंद के मानवतावाद को अधिक सक्रियता प्रदान करने के रूप में प्रकट हुआ। गोर्की की भांति जिसने सामाजिक अन्याय के फलस्वरूप जीवन के गर्त में फेंक दिए गए रूसी व्यक्ति को ऊपर उठाया। प्रेमचंद ने अपनी जनता में साधारण मेहनतकशों का आत्मिक सौंदर्य दिखाया, उनकी उदात्तता और नैतिक निर्मलता का गुणगान किया।

प्रेमचंद ने जनता के जीवन और नए व्यक्ति के शिक्षण की दृष्टि से साहित्य की भूमिका के बारे में नए दृष्टिकोणों की स्थापना और उनका विकास किया। गोर्की के साथ उनकी इस सादृश्यता की ओर भी ध्यान गए बिना नहीं रहा जा सकता। साहित्य को स्वतंत्रता और सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन मानते हुए प्रेमचंद वर्ग-विरोध वाले समाज में संस्कृति के दोहरे स्वरूप की समझ के बहुत निकट पहुंचे। चौथे दशक में गोर्की द्वारा उठाए गए इस प्रश्न का "संस्कृति के अधिकारी आप किन के साथ हैं ?" प्रेमचंद ने अपने 'साहित्य का उद्देश्य' लेख में उत्तर दिया है।

प्रेमचंद के अनेक शिष्य और अनुयायी आज भी उनकी वाणी पर कान देते

हैं, उनकी साहित्यिक विरासत से प्रेरणा ग्रहण करते हैं और वह उन्हें अवांछित रूप से जीवन से संबंधित और ऐसे साहित्य के सृजन में सहायता देता है जो मानव के आत्मिक उत्थान तथा सामाजिक प्रगति के ध्येयों को पूरा करता है, भारतीय जनता को नवजीवन पथ पर अग्रसर होने में बाधक बनाने वाली सभी चीजों के विरुद्ध संघर्ष को अपना लक्ष्य बनाता है। प्रेमचंद ने भारतीय साहित्य की प्रगति का जीवन के साथ घनिष्ट संबंध जोड़ा है। अपने साहित्य के भविष्य के बारे में प्रेमचंद के शब्द आज भी महत्त्वपूर्ण हैं, भारतीय लेखकों को प्रगतिशील साहित्य के सृजन के लिए प्रेरित करते हैं।

हम सोवियत लोगों के लिए सबसे पहले तो यह बात बहुत महत्त्व रखती है कि प्रेमचंद ने औपनिवेशिक दासता के कठिन वर्षों में हमारे देश के बारे में अपनी मातृभूमि में सत्य प्रचार करने के लिए साहस और दृढ़ता से संघर्ष किया। अक्तूबर क्रांति और सोवियत जनता के जीवन में प्रेमचंद ने बड़ी रुचि ली। अंग्रेजी राज के भयानक दिनों में प्रेमचंद ने दुनिया के पहले समाजवादी देश के बारे में सच्चाई बताने का भरसक प्रयत्न किया।

इसमें सर्वहारा क्रांति को प्रेमचंद ने भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के साथ अभिन्न रूप से सूत्रबद्ध किया। "जनता की इस ठहरी हुई हालत से धोखे में न आइए। इनकलाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताकत छिपी हुई है।"

यह तथ्य भी सर्वविदित है कि प्रेमचंद ने भारत में क्लासिकी और सोवियत साहित्य को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत कुछ किया। प्रेमचंद की इन सभी गतिविधियों ने हमारे देश के जनगण के बीच मैत्री और आपसी समझबूझ बढ़ाने में मदद की और आज भी वे ऐसा कर रही हैं। उन्होंने सोवियत भारत मैत्री की उस नींव को पक्का कराने में हाथ बंटाया, जिस पर खड़ी शानदार इमारत आज और अधिक ऊंची तथा भव्य होती जा रही है।

सुब्रह्मण्य भारती की कविता और भारतीय साहित्य

बीसवीं सदी के आरंभ से भारतीय साहित्यों के वैचारिक-काव्यात्मक मेल-मिलाप की प्रक्रिया में एक तेज़ी आयी है—इस प्रक्रिया का आरंभ तो उन्नीसवीं सदी के लगभग बीचोंबीच भारत के लोगों की राष्ट्रीय चेतना के जागरण और स्वाधीनता संग्राम में आबादी के बहुत सारे भागों की हिस्सेदारी लगातार बढ़ते जाने के परिणामस्वरूप हुआ था। ठीक इसी काल में भारतीय साहित्य के बहुमुखी स्वरूप की रचना आरंभ हुई—इस साहित्य में भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों का समावेश था। इनमें से प्रत्येक साहित्य ने अपनी विशेषताएं कायम रखीं और अपनी-अपनी सांस्कृतिक परंपराओं से आगे बढ़ना आरंभ किया। साथ ही साथ भारत के जन-गण के सब साहित्यों में सांझी प्रवृत्तियां और रुझान उभरे, इन साहित्यों में समान नियम कार्य करने लगे—ये नियम देश के सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास की अवस्थाओं की समानता के कारण अस्तित्व में आए थे।

इसी काल में भारत की विभिन्न भाषाओं में उच्च कोटि के साहित्कार साहित्य गगन में उदित हुए जिन्होंने देश की विभिन्न भाषाओं में रचना की और एक राष्ट्रीय साहित्य की नींव रखी। इन सब लेखकों की कृतियां सर्वथा भिन्न थीं पर फिर भी उनके उपादान और प्ररूप सांझे थे। उपादान की समानता इस कारण आयी कि भारत के विभिन्न साहित्यों में संपर्क और परस्पर-क्रिया हुई, और इस कारण भी कि विभिन्न राष्ट्रीय साहित्यों के लेखकों ने एक ही यूरोपीय लेखकों की रचनाओं को अपना आदर्श बनाया। विभिन्न राष्ट्रीय साहित्यों के लेखकों की रचनाओं में प्ररूप की समानता इस कारण आयी कि देश के विभिन्न भागों में लगभग एक जैसी सामाजिक-राजनीतिक अवस्थाओं का विकास हुआ था और उसका इन लेखकों पर प्रभाव पड़ा था जिसके परिणामस्वरूप एक-दूसरे से प्रभावित न होने पर भी उनकी कृतियों में समान कथ्य आ गए।

खास तौर से उपादान और प्ररूप की यह सांझेदारी उस देशभक्ति की कविता

में स्पष्ट देखी जा सकती है जिसकी प्रेरणा भारत में स्वतंत्रता आंदोलन की संवृद्धि से मिली थी। भारत के ऐसे उत्कृष्ट कवियों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्य भारती, नज़रुल इस्लाम, मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', जोश मलीहाबादी और अन्य बहुत सारे रचनाकारों ने—एक-दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र रूप से वे ही विषय और कथानक लिए, एक जैसे चरित्रों का वर्णन किया, काव्य के एक जैसे ही आदर्श प्रस्तुत किए, इत्यादि।

तमिलनाडु के महान कवि सुब्रह्मण्य भारती की वैचारिक और काव्यात्मक प्रतिभा का वर्णन न करके मैं उनके देशभक्तिपूर्ण गीतिकाव्य के कुछ पहलुओं की ही चर्चा करूंगा—मेरी राय में इसी गीति-काव्य ने बीसवीं सदी के प्रथम दशक में, सारे भारतीय लोगों के संपूर्ण साहित्य के, जो मुक्ति आंदोलन से अनुप्राणित था, विकास की मुख्य प्रवृत्ति नियत कर दी।

भारती की कविता की ये जन्मजात विशेषताएं, जो उन्हें भारत के अन्य उत्कृष्ट कवियों की कोटि में लाती हैं, अंशतः सांझे उद्‌गम के परिणामस्वरूप आयीं। उदाहरण के लिए, यह बात सर्वविदित है कि भारती का रवीन्द्र साहित्य से परिचय था, और कि वे भारतीय साहित्य के विकास में रवीन्द्रनाथ के योगदान की बड़ी सराहना करते थे। बहुत सारे भारतीय कवियों की तरह ही, जो मुक्ति-आंदोलन के प्रभाव में थे, वे क्रांतिकारी स्वच्छंदतावादी इंग्लिश कवि शैली और अन्य लेखकों की कृतियों से प्रभावित हुए थे। भारती की कविता के उपादानों की शैली तथा रवीन्द्रनाथ और अन्य कवियों के काव्य-उपादान से समानता और अधिक शोध का विषय है।

फिर भी मेरी राय में, भारती की देशभक्ति की कविता और अन्य भारतीय लेखकों की रचनाओं की समानता काव्य के उपादान में उतनी नहीं है, जितनी उनके प्ररूपों में। आइए देखें कि दो प्रमुख प्रतीक—स्वदेश का और स्वतंत्रता का—भारती की देश-भक्तिपूर्ण कविता में किस प्रकार विकसित होते हैं।

दासतामुक्ति के विचारों से अनुप्राणित सारी भारतीय कविता में मातृभूमि को ऊंचा स्थान मिला है। लेकिन इस प्रेम का निरूपण करते हुए राष्ट्रीय जागरण काल के अनेक कवि मूलवंशीय, प्रादेशिक और धार्मिक सीमाएं न तोड़ पाए। उनका देश-प्रेम अपने जन्मस्थान वाले क्षेत्र की प्रशंसा, अपने धर्मबंधुओं और अपने कबीले के लोगों के हितों की रक्षा तक ही अधिकतर सिमटा रहा है।

मातृभूमि की संकल्पना, जिसमें अनेक भाषाओं वाले सारे भारत देश का विचार मौजूद है, जिसमें विभिन्न धर्म, भाषाएं, मूलवंश, जातियां, रुचियां और रिवाज आदि हैं, सबसे पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सुब्रह्मण्य भारती की कविता में ही दिखाई देती हैं। असल में इन्हीं दो कवियों ने सबसे बढ़ कर यह बात समझी कि भारत की सुख-समृद्धि की गारंटी इसकी अखंडता है। उदाहरण के

पैदा करने में काम लाएंगे : हम खानों की खुदाई कराएंगे और सोना तथा खनिज निकालेंगे और उनके द्वारा संसार भर से अपनी जरूरत की कीमती चीजें खरीदेंगे··· हम ऐसे साधन लाएंगे जिनसे वनारस के वैज्ञानिकों और कवियों की वाणी हम कांची में सुन सकेंगे···हम मानव-जाति द्वारा खोजे गए विज्ञान के सब रहस्यों तक पहुंचेंगे, हम आकाश का विस्तार नापेंगे और समुद्रों की थाह लगाएंगे; हम चंद्रमा के चक्र की खोज करेंगे" इत्यादि।

अपनी एक अंतिम कविता भारत-समुदयम् (1920) में, जिसे मेरी राय में कवि का राजनीतिक वक्तव्य कहा जा सकता है, भारती ने भविष्य की गहराई में प्रवेश करने का यत्न किया है; उन्होंने यह कल्पना की है कि उपनिवेश-बंधन से स्वाधीन होने के बाद भारत कैसा लगेगा। "हमारे समाज में 30 करोड़ लोग हैं और उन सबको समान अधिकार होंगे।···अगर कोई एक आदमी भी भूखा रहेगा तो हम सारे संसार के खिलाफ विद्रोह कर देंगे। हम सब एक ही परिवार, एक ही वंश और एक ही बिरादरी के लोग हैं। हम सब भारत माता की संतान हैं; सामाजिक दृष्टि से और संपत्ति के अधिकार के मामले में हम सब बराबर हैं; हममें से हर व्यक्ति भारत का शासक है।"

इस देश की दासता मुक्ति से लगभग चौथाई सदी पहले भारती ने एक स्वतंत्र और स्वाधीन भारत की प्रशंसा में गीत गाए थे—भारत गणराज्य की प्रशंसा में, जहां सब लोगों के लिए स्वतंत्रता और समानता का राज्य कायम किया जाएगा। यह बात उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के विचार भारतीय कविता में 1947-1950 के बाद ही स्थापित हुए जब भारत उपनिवेशावस्था से मुक्त हुआ और भारत संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न गणराज्य बन गया। उदाहरण के लिए, रामधारी सिंह दिनकर की हिंदी कविता 'गणतंत्र का जन्म' और बालकृष्ण शर्मा नवीन की 'हमारा भारत' इत्यादि में—ये दोनों कविताएं 1950 में लिखी गयी थीं।

विभिन्न भाषाओं में लिख रहे बहुत से भारतीय कवियों की रचनाओं में, देश को मुक्त कराने का विचार, जो पक्के और निःस्वार्थ संघर्ष के जरिए ही करना है, सर्वोच्च काव्यात्मक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आरंभ में एक विद्रोही बंगाली नेता नज़रुल इस्लाम "···सलाखें भारी हथौड़े से तोड़ने, ताले तोड़ फेंकने और काल कोठरियों के द्वार खोल डालने" के लिए आह्वान किया है। हिंदी कवि निराला लिखते हैं कि अत्याचारी से दया करने के लिए कहना ठीक नहीं। शिवाजी के जरिए गद्दार महाराजा जयसिंह को संबोधित करते हुए कवि कहता है: "अगर आप अपनी माता के शरीर पर लगे अपमान के धब्बों को शत्रुओं के खून से धो सकते हैं तो सारे देशवासी आपको वीरों जैसा आदर और सम्मान देंगे।" ('शिवाजी महाराज का पत्र' 1922)

इस तरह के कथ्य भारती की कविता में बहुत पहले दिखाई देते हैं। 1908 में ही, अपनी प्रसिद्ध कविता 'श्री विंच का बयान और देशभक्त चिदंबरम पिल्लई का उत्तर' में कवि ने दृढ़ शब्दों में कहा है : "अब हम अपने ही देश में गुलामों की तरह नहीं मरेंगे···जब तक हमारे शरीर में प्राण हैं, हम 'वन्दे मातरम्' का नारा लगाते रहेंगे···क्या हमारे देश में समाज पर अपनी बलि देने के लिए तैयार और लोग नहीं हैं ?" अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्हें मुक्ति संघर्ष के सफल परिणाम का विश्वास था : "इस बात में कोई संशय नहीं है कि विजय सुनिश्चित है। आप उसे जरूर देखेंगे। अपनी शक्ति पर भरोसा रखिए !" (भारत माता, 'नवरत्न मालाइ', 1920)।

भारती भारतवर्ष के लिए स्वतंत्रता उद्घोषित करने से भी आगे जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह वे भी यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि भारत को असली स्वतंत्रता तभी मिलेगी जब भूमंडल पर गुलामी का नामोनिशान नहीं रहेगा। " ओ स्वतंत्रता की देवी, क्या कोई भी देश तुम्हारे प्रकाश से अप्रकाशित रह कर जीवित रह सकता है ?" (सुतंतिरा देवियिन तुदि, 1919)।

भारत के सारे देशभक्ति काव्य में निःस्वार्थ संघर्ष का विचार ओत-प्रोत है। उदाहरण के लिए, तीसरे दशक के आरंभ में नज़रुल इस्लाम ने लिखा था : "हम क्रांति के आरंभ के तूफानी दिन ही इसके लिए भर रहे हैं।" मानो उन्हीं की अनुकगूंज में हिंदी में हिंदी कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा : "मुझे तोड़ माली उस पथ पर देना तू फेंक, मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाते वीर अनेक।" यही विचार भारती की कविता में भी स्पष्ट रीति से आया है। उदाहरण के लिए अपनी कविता 'स्वतंत्रता देवी की स्तुति' में भारती लिखते हैं : "चाहे जो हो, मैं स्वतंत्रता देवी के प्रति निष्ठावान रहूंगा। चाहे मुझे जेल में रहकर कष्ट भी उठाना पड़े, चाहे मुझे दुत्कारा और कुचला जाए, पर हे स्वतंत्रता की देवी, मैं तेरी उपासना करता रहूंगा।"

भारतीय कविता में स्वतंत्रता का अभिप्राय (मोटीफ़) देश की दुर्दशा के यथार्थ चित्रण के प्रसंग में और अधिक अच्छे भविष्य के रोमानी स्वप्नों के प्रसंगों में भावुकता के शिखर पर जा पहुंचता है। "हम गुलामी के कारण अंधे हो गए हैं और इसलिए अपने देश की वास्तविक अवस्था से बेखबर है···गुलामी की वजह से हम बहरे हो गए हैं और इसलिए उसकी कराहों और रुदन को सुन नहीं पाते", ये शब्द मराठी कवि केशवदत्त ने 20वीं सदी के शुरू में लिखे थे। उन्होंने आगे लिखा था : "मैंने क्रांति का हथौड़ा अपने हाथों में उठाया और मैं बेधड़क क्रांति के आगमन का उद्घोष करता हूं !" एक और मराठी कवि आर० एन० वी० तिलक ने अपनी कविता 'सखी स्वातंत्र' में, स्वतंत्रता के आगमन के लिए प्रबल इच्छा घोषित की है : "ओ स्वतंत्रता तुम मेरी आत्मा, मेरा

जीवन हो। तुम्हारे अभाव में यह संसार मरुस्थल-सा दिखाई देता है। तुम्हारे खातिर मैं अपना जीवन बलिदान कर सकता हूं।" भारती की कविता में स्वतंत्रता के मोटीफ़ में कथन की गहराई और सामाजिक अर्थवत्ता है। उपनिवेशकाल के दमघोटू वातावरण के यथार्थवादी चित्रण में कवि बहुत भारी कलात्मक प्रभाव डालता है। भारत "ऐसा देश है जो अन्य सब देशों से नीचे चला गया है, जहां गरीबी का राज है, आजादी का अभाव है जो पूरी तरह नष्ट हो गया है, औपनिवेशिक गुलामी के भयानक रोगाणुओं से ग्रस्त है, जिससे लोगों को असीम कष्ट भोगने पड़ते हैं।" '(पैंटास्टिच अबाउट महात्मा गांधी' 1919)। अन्य अनेक भारतीय कवियों की तरह भारती के लिए भी उषाकाल आजादी का एक प्रतीक बन जाता है। 'कालै पोजुदु' (सवेरा) (1917) शीर्षक कविता में उषा की छवि एक नए युग के हर्षमय, कौशलपूर्ण, स्पर्श-योग्य जैसे संवेदन से संपन्न है जिसके आगमन की सूचना सूर्य की प्रथम किरण के साथ आने वाले पक्षी देते हैं। पेड़ों की डालों पर बैठे पक्षी इनका खुशी से और सम्मान के साथ स्वागत करते हैं क्योंकि ये समाज में आ रहे महान परिवर्तनों की खबर लाते हैं।

राष्ट्रीय जागरण के युग के अन्य कवियों की तरह भारती अतीत की गौरवमय विरासत पर बारीकी से चले और उन्होंने मुक्ति के विचारों के प्रचार में उसका उपयोग करने का प्रयत्न किया। भारती तथा अन्य कवियों ने अपनी रचनाओं में जीवन की यथार्थता प्रतिबिंबित करने और भारतीय जनता के सामने उस समय की प्रमुख समस्याएं पेश करने के प्रयासों से एक कलात्मक विधा को जन्म दिया जिसकी भेदक विशेषता थी—भारतीय पुराख्यानों के परंपरागत बिंबों को नई उपादान-सामग्री प्रदान करना। पुराख्यानों की प्रतीकात्मकता के कलात्मक निरूपण के ज़रिए यथार्थ का चित्रण करने की इस टैक्नीक के प्रवर्तक एक बंगाली कवि और नाटककार मधुसूदन दत्त थे। अपनी रचना 'मेघनाद-वध' (1869) में राम की सेना और रावण की सेना के बीच हुए युद्ध का वर्णन करने वाली रामायण की प्रसिद्ध घटना के परंपरागत वृत्त खंड का उल्लेख करते हुए उन्होंने वर्णन में एक आधुनिक और मर्मस्पर्शी स्वर पैदा कर दिया है। रावण के पुत्र मेघनाद की परंपरानुमोदित नकारात्मक या आसुरी छवि के स्थान पर दत्त ने वर्तमान परंपरा के विरुद्ध आकर उसे एक देशभक्त योद्धा के रूप में चित्रित किया है जो अपने देश की रक्षा करते हुए अपना बलिदान कर देता है। एक यह भी राय है कि अपनी रचना में बंगाली कवि पर 'पैराडाइज लॉस्ट' का प्रभाव पड़ा है जिसमें बाइबल की रूढ़ि छवियों का रूढ़ि विरुद्ध निरूपण किया गया है और उसमें एक क्रांतिकारी तत्त्व का समावेश हो गया है।

भारतीय जनता की राष्ट्रीय चेतना के जागरण से अनुप्राणित देश की विभिन्न भाषाओं में लिख रहे इन कवियों ने पुराख्यानों के चरित्रों और महा-

काव्यात्मक कथानकों को मर्मस्पर्शी अर्थ प्रदान करने का यत्न करते हुए उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक के आरंभ में वह परंपरा कायम रखी। इस प्रकार वे हरिऔध के हिंदी काव्य प्रियप्रवास (1914) में कृष्ण अपनी सब प्रिय वस्तुओं —अपने घर, अपने देश, अपनी प्रिया राधा का त्याग कर देता है और एक अपरिचित प्रदेश में चला जाता है जहां सब चीज़ों से वंचित लोग उसकी मुक्तिदाता के रूप में प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार कवि ने निःस्वार्थता और दूसरों के लिए त्याग का गुणगान किया है। राधा को चपल, अल्हड़, प्रेमपूर्ण ग्वालिन के रूप में चित्रित करने के बजाय हरिऔध ने उसके रूप में एक ऐसी आधुनिक स्त्री का चित्र पेश किया है जिसे अपने नगर और देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों की गहरी चेतना है। मुक्ति आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लेने वाली स्त्री के रूप में, एक ऐसी स्त्री के रूप में जो दूसरों के सुख के लिए अपने व्यक्तिगत सुख की बलि दे देती है, वह प्रस्तुत की गयी है। राधा की यह छवि मैथिलीशरण गुप्त की पुराख्यानों के कथानकों पर आधारित हिंदी कविताओं में स्त्रियों की छवियों में दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, 'यशोधरा' (1933) में यशोधरा (बुद्ध की पत्नी) का चरित्र और 'साकेत' (1931) में उर्मिला (लक्ष्मण की पत्नी) की छवि। विशेष उल्लेखनीय चरित्र उर्मिला का है जो अपने निवास-नगर के नागरिकों को एक न्यायोचित कार्य के लिए और सिंहासन के उचित उत्तराधिकारी राम को बनवास से लौटा कर लाने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। यह संघर्ष, जो जनता की विजय के रूप में समाप्त होता है, भारत में उस समय बहु-प्रचलित सत्याग्रह आंदोलन की याद दिलाता है।

मैं भारती की कविता 'पांचाली शपथम्' (1912) को उसी परंपरा में मानता हूं। इस कार्य में कवि ने महाभारत के परंपरागत कथानक का उपयोग किया है···कौरवों को द्रोपदी को नंगा करते हुए और पांडवों की पत्नी को (जिसे जुए में वे जीत चुके थे) अपने पतियों का जिन्हें बनवास हो गया था, त्याग करके उनमें से किसी एक को चुन लेने का निमंत्रण देते हुए दिखाया गया है। भारती की कविता में यह घटना एक तीव्र राजनीतिक मार्मिक अर्थ ग्रहण कर लेती है। आधी नंगी और अपमान के सम्मुख खड़ी द्रौपदी दुःख और कष्ट से पीड़ित भारत माता की प्रतीक है—धोखेबाज़ बदमाश दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन की तुलना विदेशी गुलाम-कर्ताओं से की जा सकती है जिनके आगे द्रोपदी असहाय खड़ी है। पांचों में से कोई भी पति अपनी अपमानित पत्नी की रक्षा करने और उसे घृणास्पद शत्रुओं के चंगुल से मुक्त कराने के लिए आगे नहीं बढ़ता। सकुचाते अनिश्चयग्रस्त भीष्म के रूप में तत्कालीन नरमदली लिबरल सुधारवादियों को देखा जा सकता है जो अपनी मातृभूमि के लिए कुछ भी करने में असमर्थ हैं। और अकेला कृष्ण ही उस समय विपत्तिग्रस्त स्त्री की रक्षा के लिए हिम्मत से

आगे आता है और उसे सार्वजनिक वेइज्जती और अपमान से मुक्त कराता है। यह छवि वाल गंगाधर तिलक और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के अन्य गरमदली नेताओं की छवि के सदृश है जो, भारती के अनुसार गुलामी की जंजीरों को तोड़ सके और देश को दुःख और अपमान से वचा सके।

भारती की रचनाओं में एक वार-बार आने वाला काव्य-विंव पराशक्ति का है···एक दुर्धर्ष, सर्वव्यापी अतीन्द्रिय वल संसार की हर वस्तु को ऐसी शक्ति के रूप में ढाल देता है जो अभीष्ट परिणाम निश्चित करती और पैदा करती है, और वह शक्ति, जिसका मूर्त रूप देवी काली है जो क्रांतिकारी तूफान का प्रतीक है जिसमें ब्रह्मांड चक्कर खा रहा है, मातृभूमि की स्वतंत्रता की प्रतीक है।

भारत के वहुभाषीय साहित्याकाश में भारती सबसे पहला कवि है जिसने अपनी भव्य कृति 'पुडिया रुशिया' (1917) (नया रूस) में रूसी क्रांति पर अपनी भावनाएं व्यक्त कीं। कवि ने क्रांति को काली देवी के रूप में चित्रित किया जिसने' 'रूस देश की ओर अपना मुख मोड़ा है' जहां 'धोखाधड़ी और पाप जंगल में सांपों की तरह वहुत फैले हुए थे' और जहां साधारण लोगों के लिए "···जो हल जोतते, बोते और काटते हैं, उनके लिए, अनाज है, और उनके लिए जो सत्य की खोज करते.हैं, क्रूर यंत्रणाएं, अत्याचार, जेलें, फांसी के तख्ते, सिविरिया में देशनिकाला इत्यादि भाग्य में वदे हैं।" और फिर "देवी का हृदय करुणा से भर गया। उसने अपनी सहानुभूति से अपने निष्ठावान् पुत्रों की ओर देखा, और मृत्यु का देवता यम ऐसी भयानक गर्जना के साथ लड़खड़ाया जैसे मानो हिमालय शिखर गिर पड़े हैं।" कवि ने रूसी क्रांति को 'युगपूरात्चि' कहा है जिसका अर्थ यह है कि क्रांति ने सिर्फ एक युग को ही जन्म नहीं दिया है वल्कि इस क्रांति ने मानव-जाति के इतिहास में विश्वव्यापी महत्त्व के एक नए युग का श्रीगणेश किया है—इस युग को भारती ने 'कृतयुग' नाम से पुकारा है। उनकी कविता 'नया रूस' का यही शव्द हमें यह समझने का अवसर देता है कि भारती भारत के उन प्रथम लेखकों में थे जो 1917 की रूसी क्रांति का ऐतिहासिक महत्त्व गहराई में समझ सके थे।

भारती ऐसे पहले भारतीय कवि थे जिन्होंने काली देवी के विंव का उपयोग उस क्रांति के प्रतीक के रूप में किया जिसने घृणास्पद पुरानी दुनिया को हमेशा के लिए नष्ट करके भूमंडल पर एक नए सुखी जीवन को जन्म दिया। उदाहरण के लिए, हिंदी कविता में काली देवी के विंव का क्रांति के प्रतीक के रूप में उपयोग 1924 मे निराला की कविता 'नाचे उस पार श्याम' में हुआ जो स्वयं स्वामी विवेकानंद की एक कविता 'नाचुक तहाता श्याम' का मुक्त निरूपण है। हिंदी कविता में यह प्रतीक 1930 से आरंभ दशक से पहले प्रचलित नहीं हुआ। रामधारीसिंह दिनकर की कविता 'विपथगा' (1939) में भारती की

ही तरह, काली देवी, जो क्रांति की प्रतीक है, तब मैदान में आती है जब लोग और अधिक कष्ट सहन नहीं कर सकते, जब "··· साहस शृंखलाओं में जकड़ा पड़ा है और सब जगह भ्रष्टाचार है, जब ईश्वर के नाम की आड़ में कोई निरंकुश शासन अपनी तलवार खून से रंगता है", इत्यादि। कविता में सारे संसार में महाशक्तिशाली देवी की विजययात्रा का प्रभावोत्पादक चित्र पेश किया गया है।" "अपने प्यालों की पहली खनखनाहट के साथ सारा संसार गर्जना से भर जाता है। मैं जहां भी अपना पैर रखती हूं, धरती वहीं धसक जाती है !" देवी कहती है।

इस प्रकार, भारती के देशभक्तिपूर्ण गीतिकाव्य की अन्य भारतीय भाषाओं की काव्यप्रवृत्तियों के साथ थोड़ी-सी प्ररूपात्मक तुलना करके ही हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि तमिलनाडु का महान कवि राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के विचारों से अनुप्राणित भारतीय लेखकों में अग्रणी था।

भारती ही ऐसा पहला भारतीय कवि क्यों हुआ जिसने अपनी रचनाओं में राजनीतिक दृष्टि से तीखे और सामाजिक दृष्टि से सार्थक विचार पेश किए? इसका एक कारण तो यह था कि उनकी रचना तमिलनाडु के मद्रास नगर में हुई जो भारत के मुक्ति आंदोलन का महत्त्वपूर्ण केंद्र था और दूसरा यह कि उनका मुक्ति आंदोलन और उसके लोकमान्य तिलक जैसे नेताओं के साथ सक्रिय और सजीव संपर्क था।

यह तर्कसंगत ही है कि उनकी रचनाओं के एक अध्ययनकर्ता पी० महादेवन ने यह निष्कर्ष निकाला है : "यदि कवि आज जीवित होता तो उसके प्रचंड उत्साह ने उसे उग्र वामपंथी बना दिया होता।"

वल्लतोल : दक्षिण भारत के टैगोर

26 अक्तूबर, 1978 को नारायण मेनन वल्लतोल, जिन्हें उनके बहुत से देशवासी मलयालम साहित्य का आदिगुरु मानते हैं, की जन्म शताब्दी सोवियत संघ में बड़े पैमाने पर मनायी गई। वल्लतोल ने जिन्हें अक्सर 'दक्षिण भारत का रवीन्द्रनाथ ठाकुर' कहा जाता है, 1895 के आसपास क्लासिकल कविता लिखनी आरंभ की थी और 1913 में उन्हें उनकी लंबी कविता 'पोर्ट्रेट सेलरी' पर 'महाकवि' की उपाधि दी गई थी। अपने सारे जीवन वे भारतीय जनता की क्लासिकल विरासत से जुड़े रहे, इससे प्रेरणा और शक्ति लेते रहे. अपने ही तरीके से इसका पुनर्मूल्यांकन करते रहे और इनमें आधुनिक मलयालम साहित्य और केरल संस्कृति को समृद्ध और विकसित करते रहे। भारतीय महाकाव्य रामायण, भारत के सबसे पुराने साहित्य ऋग्वेद तथा कालिदास और भास आदि की कृतियों के उनके किए हुए भावानुवाद उनके अपने प्रदेश में बहुत अधिक पढ़े जाते हैं।

वल्लतोल वास्तव में ही जनता के कवि थे जिनकी रचनाएं साधारण लोगों की भी समझ में आती थीं। जो प्रश्न उन्होंने उठाए, वे उनके देशवासियों के दिलों के नजदीक थे और आज भी हैं। उनकी देशभक्ति की कविताएं 'पितृभूमि को' (1915), 'अकाल' (1916) और 'केरल' (1918) अपने जन्म-प्रदेश के बारे में विविध चिंतनों से भरी हुई हैं और उनके 1920 के बाद के कुछ वर्षों के पद्य राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में आए प्रचंड उछाले, उपनिवेशवादियों के विरुद्ध उनके क्रोध और जनता तथा उसकी अक्षय शक्ति और संभावनाओं के बारे में उनकी आस्था प्रकट करते हैं। उन्होंने अपनी कविता 'मेरे आदरणीय शिक्षक' (1922) महात्मा गांधी को समर्पित की थी जो भारत माता के एक महान् सपूत थे और 1947 में औपनिवेशिक शासन से भारत की मुक्ति का स्वागत 'किसान का गीत' शीर्षक शानदार कविता से किया।

वल्लतोल ने अपने अंतिम समय तक सामाजिक चेतना वाली और देशभक्ति-पूर्ण कविता लिखी। 1948 में उन्होंने महात्मा गांधी की मृत्यु पर 'बापूजी'

कविता लिखी, और अपनी मृत्यु से एक साल पहले, 1957 में, उन्होंने भारत की स्वाधीनता के 10वें वार्षिक दिवस के लिए 'प्रकाश' शीर्षक कविता लिखी; 'संगठित केरल' लिखी, जिसमें उन्होंने अपने जन्म-प्रदेश के राज्य बनने का स्वागत किया; 'सिपाहियों का विद्रोह' लिखी जो भारत के महान् राष्ट्रीय विद्रोह की शताब्दी को समर्पित थी।

अपनी कला और क्रियाकलाप से कवि ने पूर्व और पश्चिम के देशों के साथ भारत के वे परंपरागत सांस्कृतिक संबंध फिर से कायम करने में मदद की जो उपनिवेशवादियों ने काट दिए थे। इस दृष्टि से, उनकी 1951 में की गई रूस यात्रा का, जो हमारे देश में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यात्रा के लगभग 20 वर्ष बाद हुई, बड़ा ही महत्त्व है।

इन दो घटनाओं का जितना महत्त्व आंका जाए, थोड़ा है। रवीन्द्रनाथ की रूस यात्रा का फल उनकी रचना 'रूस की चिट्ठी' थी जिसने उनके देशवासियों को महान् अक्तूबर क्रांति के विचारों का महत्त्व अधिक अच्छी तरह समझने में और सोवियत जनता द्वारा समाजवाद की स्थापना की दिशा में उठाए गए पहले कदमों का मूल्यांकन करने में मदद दी। रूस यात्रा के बाद वल्लतोल ने सोवियत जनता के बारे में कई शानदार कविताएं लिखी जिन्होंने अभी महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध में विजय प्राप्त की थी और संसार के सबसे प्रथम समाजवादी देश के बारे में काव्य रचना की जो शांति और प्रगति का दुर्ग थी; आपने लेनिन पर भी कविता लिखी। कवि के लिए लेनिन का मकबरा धरती पर सबसे पवित्र स्थान था; वल्लतोल ने संसार के श्रमजीवी लोगों के नेता की उपमा उषा से दी थी जिसने रूस के ऊपर अंधकार हटा दिया और सारे संसार को जगा दिया।

हम यह कभी नहीं भूल सकते कि जब यह बुजुर्ग व्यक्ति सोवियत जनता से मिलता था, तब किस तरह उसकी आंखें उत्साह से चमकने लगती थीं; कितने प्यार से वह क्रीमिया के धूप वाले वातावरण में आर्तेक यंग पायोनियर कैंप में बच्चों को गले लगाते थे; कितनी दिलचस्पी से वे सोवियत मज़दूरों, किसानों, छात्रों और वैज्ञानिकों से वार्तालाप करते थे; कितने मनोयोग से वे सोवियत लेखकों के सोवियत साहित्य के बारे में दिए गए भाषण सुनते थे, और वे सोवियत संघ की आर्थिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों पर किस तरह आनंदित होते थे। अपनी कविता 'भविष्य का युद्ध' में, जो उन्होंने अपने सोवियत प्रवास के दिनों में लिखी थी, वल्लतोल ने एक अंतरिक्ष राकेट में उड़ान की चर्चा की है जो महान् वैज्ञानिकों ने बनाया था। यूरी गागारिन की उड़ान से भी दस वर्ष पहले कवि का यह विचार था कि अंतरिक्ष यान आकाश में भेजने का मानव जाति का कठिन स्वप्न सोवियत जनता ही पूरा करेगी। मेधावी भारतीय कलाकार की तीक्ष्ण और खोजी आंख उन्हें सोवियत जीवन की गहराई में पैठने की ओर हमारी जनता के

अतीत और वर्तमान, तथा उनके स्वप्नों और विचारों को समझने की क्षमता प्रदान की थी। अपने सोवियत प्रवास के दिनों में उन्होंने अपनी कविता 'नवंबर' भी लिखी थी जिसमें पहली समाजवादी क्रांति की प्रशंसा की गई थी।

नारायण मेनन वल्लतोल का नाम सोवियत संघ में एक महान् मलयाली कवि के रूप में सुविदित है। उनकी जन्म शती सोवियत संघ में भारत की ही तरह बड़े उल्लास से मनायी गयी थी।

वल्लतोल में सोवियत लोगों की दिलचस्पी का कारण क्या है ? वे उन्हें क्यों इतने प्रिय हैं और क्यों उनके इतने निकट हैं ? चौथाई सदी से भी पहले लिखी गई उनकी कविता से वे आज भी क्यों इतने प्रभावित होते हैं ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो विचार की अपेक्षा करते हैं।

सोवियत संघ में वल्लतोल को भारतीय राष्ट्रीय पुनर्जागरण का एक उत्कृष्ट कवि माना जाता है। उनकी कविता में भारत की प्राचीन गौरवमयी परंपरा के करुणावादी आदर्श और चित्र नए ज़माने की भावना के साथ बड़े अच्छे तरीके से एकात्म हो जाते हैं। भारत की मुक्ति के लिए औपनिवेशिक अत्याचार से भारतीय राष्ट्र का संघर्ष, एक नए राष्ट्र के निर्माण के लिए उपायों और साधनों की खोज और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रबल आकांक्षा वल्लतोल की कविता में मुखर हुई हैं। हमें सामाजिक अन्याय के विरोध में उनकी आवाज़ सुनाई देती है, वे मानव की सच्ची मुक्ति के लिए, और लोकतंत्र, शांति तथा राष्ट्रों के बीच मैत्री भाव के लिए अपील करते हैं।

हम वल्लतोल को एक राष्ट्रीय कवि, जनाभिवक्ता और एक साहसी नव मार्ग निर्माता मानते हैं क्योंकि उन्होंने साहित्य में नई शैलियों की स्थापना की। सोवियत जनता उनकी कविता की देशभक्ति की भावना से, स्वदेश, स्वराष्ट्र, विशेषतः आम आदमी के प्रति उनके तीव्र प्रेम के कारण उनसे प्रभावित है— उन्होंने आम आदमी का भला करने का सदा यत्न किया। वे गरीबी और अज्ञान, भूख और रोग दूर करने के लिए उत्सुक थे जिससे मानव के आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा हो।

वल्लतोल सच्चे राष्ट्रीय कवि थे, न केवल इस कारण कि उनकी काव्याभिव्यक्ति का रूप आम आदमी आसानी से समझ लेता था, और न इस कारण कि वे अपनी आम प्रचलित समझदारी के अक्षय स्रोतों, लोकपरंपरा या अपने राष्ट्र की समृद्ध सांस्कृतिक, विरासत से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इसका कारण यह था कि उनका अपने लोगों के साथ अटूट संबंध जुड़ा हुआ था और वे उन समस्याओं के समाधान खोजते थे जो उनके लाखों देशवासियों को तब परेशान कर रही थीं, और आज भी कर रही हैं।

धार्मिक रोक-टोक और कट्टरपन उनको पसंद नहीं। अपनी कविता में उन्होंने

हिंदू, ईसाई, मुस्लिम, वौद्ध और जैन बिंबों और प्रतीकों का प्रचुर उपयोग किया है जो भारतीय जनता की एकता को पुष्ट करने में योग देते हैं। और उन्होंने धार्मिक विश्वास—भाषा, प्रजाति या जात-बिरादरी की बात बिना सोचे उनका संकलन किया है।

उनकी देशभक्ति की भावना उनकी अंतर्राष्ट्रीय वृत्ति के साथ मिलकर चलती है। उन्हने महान् भारतीय नेता महात्मा गांधी और सोवियत राज्य के संस्थापक वी० आई० लेनिन, दोनों का यशोगान किया है। उन्हें अपने जन्म प्रदेश केरल में घट रही घटनाओं पर भी उतनी ही चिंता है जितनी व्यापक संसार का नक्शा बदल रही घटनाओं पर।

वल्लतोल सच्चे मलयाली कवि थे। उनकी कविता न केवल उनके जन्म-प्रदेश केरल या भारत के लोगों को ही प्रेरणा देती है, बल्कि यह संसार के हर क्षेत्र के लोगों के हृदय आंदोलित करती है। उनका अत्यधिक लोकप्रिय कलात्मक बिंब विधान और काव्यसिद्धांत उनकी कविता में प्रतिबिंबित उनके अंतर्राष्ट्रीय मानवतावाद के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रदान करती है। जवाहरलाल नेहरू की राय में "वल्लतोल एक महान् केरली कवि थे, पर साथ ही वे एक मान्य अखिल भारतीय कवि थे, और कुछ अंश में अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व के कवि थे।" दूसरे शब्दों में, उन्हें विश्व साहित्य के महान् कवियों में स्थान दिया जा सकता है चूंकि उनका सर्जनात्मक कार्य भारत के ही नहीं, विश्व के साहित्य की विरासत बन गया है।

वल्लतोल के लिए मध्यकालीन विचारों, उपनिवेशवाद और भारतीय जनता पर हो रहे जुल्मों से लड़ना युद्ध और आक्रमण से और साम्राज्यवाद की ताकतों से लड़ने से कोई अलग चीज़ नहीं थी। इसी कारण उन्हें अपने देश में भी और व्यापक विश्व में भी शांति आंदोलन का जन्मदाता मान कर सराहा जाता है।

जोलियों-क्यूरी, ए० फेदायेव, एन० तिखोनोव, सैफुद्दीन किचलू, रामेश्वरी नेहरू और विश्व संस्कृति के अन्य प्रमुख व्यक्तियों के साथ, जो शांति के पक्ष में लड़ रहे अज्ञेय योद्धा थे, वल्लतोल ने हमारे समय के सबसे शक्तिशाली आंदोलन की नींव रखी।

हम वल्लतोल को उन महान पुरुषों की श्रेणी में भी रख सकते हैं जिन्होंने अफ्रेशियाई लेखक आंदोलन को प्रेरणा दी। यद्यपि उसी वर्ष उनका देहांत हुआ था, जिस वर्ष ताशकंत में अफ्रेशियाई लेखकों का सम्मेलन हुआ और उन्होंने इस आंदोलन के सिलसिले में हुई किसी बैठक या सम्मेलन में हिस्सा नहीं लिया, फिर भी उनका नाम इस आंदोलन के बेनर पर सुनहरे अक्षरों में लिखा गया था। एशिया और अफ्रीका के बहुत से लेखकों के लिए वल्लतोल अपने राष्ट्र और उसकी जनता की निःस्वार्थ सेवा का उदाहरण हैं। मुझे 1968 में ताशकंत में हुए उस

समारोह की याद है जब ऐतिहासिक महत्त्व के ताशकंत अफ्रेशियाई लेखक सम्मेलन के दसवें वार्षिक दिवस के अवसर पर एक अन्य उत्कृष्ट मलयालम कवि और वल्लतोल के शिष्य तथा अनुयायी शंकर कुरूप ने एक स्मरणीय भाषण दिया था और उसमें अपने गुरु द्वारा अपने साहित्य में शांति, मित्रता और प्रगति के ऊंचे मानवतावादी आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए किए गए महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेण किया था। "आजकल भारतीय प्रगतिवादी लेखक अपनी साहित्य रचना द्वारा अपने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का निर्वाह कर रहे हैं", ये शब्द सज्जाद ज़हीर ने, जो भारत में प्रगतिवादी लेखक आंदोलन के जन्मदाता थे, 1973 में अल्मा-आता में हुए पांचवें अफ्रेशियाई लेखक सम्मेलन में कहे थे। आपने आगे कहा था, "भारतीय लेखक हमारे उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के साहित्यिक अग्रजों—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मुहम्मद इकबाल, मुंशी प्रेमचंद, नज़रुल इस्लाम, सुब्रह्मण्य भारती और वल्लतोल के प्रति वफ़ादार हैं।"

वल्लतोल ने अपनी साहित्यिक रचनाओं और क्रियाकलाप के द्वारा भारत और पूर्व तथा पश्चिम के देशों के बीच परंपरागत सांस्कृतिक कड़ियां, जिन्हें उपनिवेशवादी शक्तियों ने तोड़ दिया था, फिर से जोड़ने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

वल्लतोल की सोवियत संघ की यात्रा की स्मारक एक फोटो में वे लेनिन के मकबरे के पास लाल चौक में खड़े दिखाई दे रहे हैं—उनका चेहरा प्रसन्नता की मुस्कराहट से भरा है और उनके चारों ओर खड़े सोवियत लोग उन्हें सोवियत संघ का सच्चा मित्र कहकर उनका स्वागत कर रहे हैं। एक और फोटो में वार्सा में हुई अंतर्राष्ट्रीय शांति कांग्रेस के दौरान उन्हें सोवियत लेखकों ए० फेदायेव तथा आई० ब्रेनवर्ग के साथ दिखाया गया है। यह घटना अटूट सोवियत भारतीय मैत्री और शांति तथा मेल-मिलाप के लिए दोनों के सांझे संघर्ष की प्रतीक है। निःसंदेह वल्लतोल ने सोवियत संघ और भारत के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान के विस्तार में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया।

वल्लतोल की उल्लेखनीय विरासत है भारतीय संस्कृति में प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के विकास में उनका योगदान, जिससे राष्ट्रीय कला का सच्चे स्वरूप का निरूपण करने में मदद मिलती है, और प्रकाश, सुख और नए जीवन के लिए व्याकुल करोड़ों आम आदमियों के हितों की विरोधी प्रवृत्तियों को पहचानने में भी सहायता मिलती है। आज भी वल्लतोल की कविता भारतीय लेखकों को, खासकर उनके अपने राज्य केरल के लेखकों को प्रेरणा देती है। वह उन्हें दुर्दिन में उनके लक्ष्य का संकेत करती है, और उन्हें अंतिम ध्येय—उच्च कोटि का कलात्मक साहित्य मानवतावाद, लोकतंत्र, शांति और प्रगति के महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिए अर्पित करने के लिए मार्ग-दर्शन करती है।

नवंबर 1977 में मुझे केरल में वल्लतोल की स्मृति में अर्पित वर्ष के उद्घाटन समारोह में जाने का निमंत्रण मिला। मैं वल्लतोल के प्रति उनके देशवासियों द्वारा प्रदर्शित प्रेम और असीम आदर का भाग्यवान् साक्षी था। यह समारोह भव्य स्मारक भूमि, केरल कला मंडलम्, में हुआ था जो कवि के जन्म-स्थान पर नया ही बनाया गया था। वहां वल्लतोल की परंपरा के अनुसंधान और विकास के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है, जिसमें जगत्प्रसिद्ध कथकली नृत्य की कला भी शामिल है जिसे कवि ने पुनर्जीवित किया था। वल्लतोल के शताब्दी समारोह के कार्यक्रम के मुख्य संयोजक भारत-सोवियत सांस्कृतिक संघ के अध्यक्ष के० पी० एस० मेनन, प्रसिद्ध कवि और साहित्य अकादमी के भूतपूर्व अध्यक्ष उमाशंकर जोशी, एक साहित्यकार और जननेता अच्युत मेनन तथा अन्य बहुत से प्रसिद्ध सांस्कृतिक लोग थे।

सोवियत जनता ने भी अपने भारतीय मित्रों के साथ यह स्मरणीय उत्सव मनाया। वल्लतोल का नाम सोवियत संघ में दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। रूसी भाषा में वल्लतोल की रचनाओं से परिचित हुए सोवियत जनता को चौथाई सदी से अधिक समय हो गया है—बाद में सोवियत संघ की अन्य भाषाओं में और पत्रिकाओं में भी उनकी रचनाएं छपी हैं। 1958 में 'फारेन लिटरेचर' के प्रकाशकों ने वल्लतोल की संकलित रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया था जिसका अनुवाद एम० पावलोवा ने किया था। पुस्तक का संपादन मैंने किया था और संकलन तथा भाष्य वर्षों में मास्को में रहकर कार्य कर रहे मलयाली साहित्यकार चंद्रशेखर ने किया था। वल्लतोल के शताब्दी समारोह पर उनकी चुनी हुई कविताओं का एक नया संग्रह रूसी भाषा में अब मास्को के 'नाउका' प्रकाशन गृह द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। इसका आमुख ए० मेनन ने लिखा है, संकलनकर्ता वी० मकरेंको है और संपादक मैं हूं। पुस्तक तैयार करने में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान श्रीचंद्रशेखर का रहा। इस कृति के संकलन में प्रतिभाशाली कवियों के एक समूह की सेवाओं का लाभ उठाया गया है। रूसी छंद विज्ञान के द्वारा वल्लतोल की कविता में ध्वनियों और रिद्म के अद्भुत मेल के जरिए लायी गयी संगीतात्मकता और भावपूर्णता दिखाने का यत्न किया गया है।

नज़रुल इस्लाम–बंगाली कविता में क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद का प्रवर्तक

कुछ समय पूर्व सोवियत संघ में महान कवि और वाग्मी नज़रुल इस्लाम का 80वां जन्म दिन मनाया गया था—नज़रुल इस्लाम को सोवियत संघ में भी वही आदर हासिल है जो भारतीय उपमहाद्वीप की जनता में।

नज़रुल इस्लाम की काव्य प्रतिभा बांग्ला देश, भारत और अन्य स्थानों में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। उन्होंने इस क्षेत्र के साहित्य में प्रगतिशील प्रवृत्तियां बढ़ाने में मदद दी है। वे एक विलक्षण नवीनता—विधायक कवि थे—उन्होंने साहस के साथ घिसे-पिटे कविता-सिद्धांत को तोड़ फेंका और नयी राह बनायी; उन्होने अपने देशवासियों को आलोड़ित करने वाले विचार और भावनाएं प्रकट करने के लिए प्रभावकारी रूप खोजे और बताए। उन्होंने परिश्रम से अपनी कविता में जुझारू भावना भरी, उसे सबके लिए सुलभ और सबके काम आने योग्य बनाया। इस दृष्टि से नज़रुल इस्लाम की काव्यधारणाएं एक उत्कृष्ट सोवियत कवि और वाग्मी और क्रांति के संदेशवाहक व्लादिमिर मायकोवस्की की धारणाओं से सादृश्य रखती हैं, जो रूसी कविता के क्रांतिकारी पुनर्जन्म में प्रधान स्थान रखते हैं और जिन्होंने यह उद्‌घोषणा की थी कि "गीत और पद्य बम और झंडा हैं।"

बंगाली में, और अन्य भारतीय साहित्य में भी, नज़रुल इस्लाम क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक थे जो उनके देशवासियों की राष्ट्रीय चेतना के जागरण और भारत में क्रांतिकारी विचारों के प्रसार से निकट संबंध रखते थे। उनकी कविता में बंगाली प्रगतिशीलों के विचारों और आकांक्षाओं की प्रतिध्वनि थी जो पुरानी दुनिया की निंदा करते थे और क्रांति की शुद्धता-कारक आंधी का स्वप्न देखते थे। ये भावनाएं नज़रुल के क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद में विशेष रूप से उनकी प्रथम कार्यक्रम कविता 'एक क्रांतिकारी' में व्यक्त की गयी थी।

नज़रुल इस्लाम की 1920 के बाद के कुछ वर्षों में लिखी गयी कविताओं में संसार की पहली सर्वहारा क्रांति महान अक्तूबर क्रांति की गूंज सुनाई न देना

असंभव है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि नज़रुल इस्लाम ने 'प्लो' नामक पत्रिका में अंतर्राष्ट्रीय क्रांति-गीत 'इंटरनेशनल' का प्रथम बंगाली अनुवाद 1927 में 'जनता की आवाज़' शीर्षक से प्रकाशित कराया था और उन्होंने स्वयं ही इसे मजदूरों की एक सभा में गाया था।

नज़रुल इस्लाम की कविता में व्यक्त मानववाद की हम कद्र करते हैं, पर उनकी भावनाएं अश्रुपूरित करुणा से बहुत दूर हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वे मानव को ऊंचा उठाने के लिए उसे आत्मगौरव का बोध देने के लिए और इस गौरवबोध का उपयोग दया, सत्य और न्याय की प्राप्ति में सहायता देने को करने के लिए, उसे पीड़ा से राहत देने के लिए, उसे अपने अधिकारों और एक अच्छे भविष्य के वास्ते लड़ने की प्रेरणा देने के लिए आती हैं। नज़रुल इस्लाम परिस्थितियों के आगे हथियार डाल देने और निष्क्रिय स्वीकृति में विश्वास नहीं करते थे : वे बुराई से मोर्चा लेने, मनुष्य को पीड़ा देने वाली और उसके सुख में बाधक बनने वाली हर चीज़ से दो-दो हाथ करने के हामी थे। यह बात उन्होंने अपनी कई कविताओं में कही है : 'मानव', 'एकांत द्वीप', 'आगे बढ़ने वालों के प्रति' और अन्य अनेक में उनके मानववाद को सक्रिय मानववाद का नाम देता हूं, बहुत कुछ वैसा ही जैसा गोर्की की 'स्टोरी आफ दि फाल्कन' और 'सौंग आफ़ स्टोर्मी पैट्रेल' जैसी रचनाओं में है। वे सोवियत जनता के नज़दीक हैं जो समाजवादी मानववाद के आदर्शों पर पाले-पोसे गए हैं जोकि सोवियत जीवन और साहित्य में प्रतिफलित होते हैं। नज़रुल इस्लाम ने अपना सारा जीवन खून की आखिरी बूंद तक, अपने देश की आज़ादी की लड़ाई के लिए, मानव की दासता मुक्ति के लिए और मेहनतकश जनता का भविष्य संवारने के लिए समर्पित कर दिया। 'मेरा सिद्धांत घोषणापत्र' में वे अपनी कलम अपने खुद में डुबोने और इससे क्रोध और संघर्ष की जोशीली पंक्तियां लिखने को तैयार हैं।

लेकिन नजरुल इस्लाम की प्रतिभा केवल एक क्रांतिकारी कवि और सार्वजनिक वक्ता होने तक ही सीमित नहीं है; वे भावपूर्ण गीति कविता के भी महान लेखक हैं।

नजरुल इस्लाम का नाम सोवियत संघ में सुपरिचित है। उनकी चुनी हुई कविताओं का प्रथम संग्रह मास्को में 1963 में प्रकाशित हुआ था और तब से मास्को और ताशकंत में उसके चार संशोधित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

पूर्वी देशों के आधुनिक साहित्य पर प्रकाशित हर लेख, पुस्तक या पाठ्य-पुस्तक में नज़रुल इस्लाम की, उनके जीवन की और उनके लेखन की चर्चा मिलेगी।

नजरुल इस्लाम के क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद को उनकी कविता में प्रदीप्त हुए 60 वर्ष हो चुके हैं और उसके प्रकाश से सारा भारतीय उपमहाद्वीप जगमगा

उठा था। लाखों लोग नज़रुल का नाम प्रेम और आदर के साथ लेते हैं। नए कवि उनसे काव्य का शिल्प और विश्वासों का साहस सीखते हैं और उनकी कविता से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। नज़रुल इस्लाम की परंपराएं आज भी जीवित हैं, और वे आधुनिक साहित्य के विकास में मदद दे रही हैं। यह बात सभी बड़े कवियों के बारे में सच है और गेटे, पुश्किन, रवींद्रनाथ या इकबाल की परंपरा में है।

1961 की शरद ऋतु में मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्मशती में कलकत्ता में शामिल होने का सौभाग्य मिला। एक दिन रवीन्द्रनाथ द्वारा स्थापित शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा प्रस्तुत एक कार्यक्रम में तरुण-तरुणियां रवीन्द्रनाथ के आशावादी वसंत गीत गा रहे थे। "क्या तुम्हें पता है कि रवीन्द्रनाथ ने ये गीत नज़रुल इस्लाम के नाम समर्पित किए थे जो उस समय जेल में सड़ रहे थे।" मेरे एक मित्र ने, जो एक बुजुर्ग लेखक थे, उनसे पूछा। "रवीन्द्रनाथ हमारे नज़रुल से बड़ा प्यार करते थे, और उनके बड़े प्रशंसक थे", उसने विचारपूर्वक उत्तर दिया। "और स्वयं नज़रुल उन गीतों को बड़े उत्साह से गाया करते थे", एक दूसरे लेखक ने कहा। "हम उनसे मिल क्यों न आवें ?" हमारी टोली के एक और सदस्य ने सुझाव दिया।

मुझे पता चला कि नज़रुल कलकत्ता के बाहरी हिस्से में उस क्षेत्र में रहते थे जहां बीच-बीच में नई बनी हुई इमारतें थीं। एक प्रसन्नमुख तरुणी और एक पांच-वर्षीय बालक ने दरवाज़े पर हमारा स्वागत किया। वह रुग्ण कवि की पुत्र-वधू थी और लड़का उनका पोता था। हमें एक सुप्रकाशित कमरे में बैठाया गया जिसमें कांच का एक बड़ा केस बना हुआ था जिसमें कवि के पुत्र काजी अनिरुद्ध के, जो प्रसिद्ध संगीतकार हैं, अनेक वाद्य रखे हुए थे। दीवार पर एक नौजवान का एक बड़ा चित्र टंगा हुआ था, जिसके चेहरे पर दृढ़ता और आशा दिखायी देती थी – उसकी लंबी केशराशि हवा से उड़ रही थी और उसकी बांह हवा में ऊंची उठी हुई थी। यह नज़रुल इस्लाम का फोटो था जो 1920 के बाद के दिनों में एक मुशायरे में बोलते हुए खींचा गया था। भारत के राष्ट्रपति द्वारा कवि के साठवें जन्म दिन पर दिया गया प्रशस्ति पत्र इसके साथ लटका हुआ था।

थोड़ी देर में नज़रुल इस्लाम को कमरे में लाया गया। उस रोगी आदमी को आमने-सामने देखना एक भयानक अनुभव था—उसका चेहरा ऐसा भावहीन था जैसे कोई मुखौटा हो और आंखें बिल्कुल बेचमक थीं। "नज़रुल इस्लाम को आपके देश से गहरा प्यार था", वहां मौजूद एक बंगाली कवि ने कहा। "वे सोवियत जीवन के बारे में सदा अधिकाधिक जानने की कोशिश करते थे और भारतीयों के सामने प्रथम समाजवादी देश की सच्ची तस्वीर रखा करते थे। और औपनिवेशिक शासन में यह चीज आसान नहीं थी।" उसने ऊंची आवाज़ में

कई बार हमारा परिचय दिया : "नज़रुल, रूस से एक मेहमान तुमसे मिलने आया है। समझ रहे हो ? लेनिन के देश से !"

मुझे लगा कि उनके चेहरे पर पहचान की एक क्षणिक चमक आयी पर क्षण भर में ही वह लुप्त हो गयी और उन्होंने अपनी सूनी नज़र आकाश में गड़ा दी। "ये हमारे साथ हैं भी और नहीं भी हैं," किसी ने कहा। "ज़रा सोचिए, इन्हें यह पता नहीं कि लगभग आधी मानव-जाति उपनिवेशवाद से मुक्त हो चुकी है और उनका प्यारा सपना पूरा हो गया है—भारत स्वाधीन है।" इस पर उसके पुराने मित्र, जिन्होंने उसके साथ मिलकर संघर्ष और काम किया था और सपने देखे थे, उसके जुझारू यौवन का एक गीत गाने लगे जो कभी उन्होंने स्वयं बड़े जोश से गाया था।

और फिर कमरे में शांति छा गयी। सड़क की आवाज़ें खुली खिड़की से अंदर आने लगीं। बगीचे में खेल रहे बच्चों की आवाज़ें प्रसन्न और उल्लासपूर्ण थीं और शायद कवि का पोता भी उनमें था। ये थीं जीवन की आवाज़ें; सतत गतिशील और विकासशील जीवन की, भारत की नयी पीढ़ी की आवाज़ें जिसके सुख के सपने नज़रुल इस्लाम ने इतने जोश से देखे थे और अपनी आत्मा की सारी शक्ति अपने लोगों के समृद्ध भविष्य के लिए—बल्कि सारी मानव-जाति के लिए लगा दी थी।

"भारत कोकिला" सरोजिनी नायडू

भारत की प्रसिद्ध सार्वजनिक-राजनीतिक नेत्री और कवयित्री सरोजिनी नायडू की जन्म-शती सोवियत संघ में उत्साह से मनायी गयी।

सोवियत लोग सरोजिनी नायडू को महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू की सहयोगी और राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन की एक नेत्री के रूप में जानते हैं। अंग्रेज उपनिवेशवादियों के खिलाफ उन्होंने डटकर संघर्ष किया। मातृभूमि की मुक्ति के पवित्र-पावन ध्येय के लिए और भारतीय जनता की निःस्वार्थ सेवा के लिए उन्होंने अपनी सारी प्रतिभा, पूरी शक्ति अर्पित कर दी।

देशवासियों ने उन्हें 'भारत-कोकिला' के नाम से पुकारा। सरोजिनी नायडू की कविताएं भारतीय देशभक्तों के सभा-सम्मेलनों में बड़े जोर से गूंजी। कवयित्री के रूप में उन्हें पूरे राष्ट्र का सम्मान और सभी लोगों का प्रेम प्राप्त हुआ।

जीवन के साथ साहित्य के घनिष्ठ संबंध को सरोजिनी नायडू ने अत्यंत आवश्यक माना और राष्ट्रीय मुक्ति के संग्राम में कवि की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर ज़ोर दिया। सन् 1936 में भारत के प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना का उन्होंने स्वागत किया। संघ के उद्देश्य तथा कार्य उनके अपने मनोभावों विचारों और आदर्शों से पूरा मेल खाते थे। उन्होंने कहा कि कवि अपनी जनता के जीवन के प्रति निरपेक्ष नहीं रह सकता; उसका भाग्य तो देश के साथ, देशवासियों की सभी चिंताओं और कठिनाइयों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। उनके ये विचार आज भी अत्यंत 'समयानुकूल जान पड़ते है और वे वेहतर ज़िंदगी के लिए' जनता के संघर्ष में लेखकों की भूमिका तथा उनका स्थान निर्धारित करते हैं।

उनका अपना जीवन उनके काव्य की पुकार का मूर्तमान रूप था।

भारत की नारियों को सार्वजनिक-राजनीतिक जीवन में खींच लाने, उन्हें स्वतंत्रता-संग्राम का योद्धा वनाने में सरोजिनी नायडू ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्हें भारत में नारी-आंदोलन की जन्मदात्री ठीक ही कहा जाता है और इसीलिए उनका जन्म-दिवस भारत में हर वर्ष 'महिला-दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

सरोजिनी नायडू की देश-भक्ति उनकी अंतर्राष्ट्रीयता की भावना से हमेशा अभिन्न रही। भारत की राजनीतिक मुक्ति के लिए संघर्ष को उन्होंने दुनिया के सभी गुलाम राष्ट्रों के आम मुक्ति-संग्राम की पृष्ठभूमि में देखा। सन् 1947 में स्वाधीनता की प्राप्ति पर देशवासियों को बधाई देते हुए जब वे दिल्ली में रेडियो पर बोली तो उन्होंने इस बात की चर्चा की। भारत की स्वाधीनता से कुछ पहले मार्च सन् 1947 में दिल्ली में एशिया के 20 देशों का सम्मेलन हुआ, जिसमें सोवियत प्रतिनिधिमंडल ने भी भाग लिया। सरोजिनी नायडू ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। अपने भाषण में उन्होंने एशिया के राष्ट्रों से शांति और राष्ट्रों की स्वाधीनता के लिए मिलकर संघर्ष करने की अपील की। इस सम्मेलन को उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के खिलाफ और शांति व राष्ट्रों की मैत्री के लिए एशिया और अफ्रीका के देशों के एकजुटता-आंदोलन के आविर्भाव की दिशा में एक पहला कदम कहा जा सकता है और सरोजिनी नायडू स्पष्ट ही इस आंदोलन का एक अग्रदूत और संस्थापक थी।

हम जानते हैं कि सरोजिनी नायडू सोवियत जनता की सच्ची मित्र थी। विदेशी शासन की हालत में इस सदी के चौथे दशक में सोवियत संघ के साथ मैत्री के विचारों का प्रचार करने के लिए बड़ा कलेजा चाहिए था, बड़े सामाजिक साहस की आवश्यकता थी। फिर दूसरे विश्व-युद्ध के वर्षों में तो उन्होंने इस हेतु अथक कार्य किया। फासिस्ट ताकतों के खिलाफ मुक्ति-संग्राम में जूझ रही सोवियत जनता के समर्थन में 22 फरवरी, 1942 को लखनऊ में आम सभा हुई। उसका उद्घाटन करते हुए सरोजिनी नायडू ने कहा : "लड़ाई ने सोवियत जनता की अटूट एकता प्रदर्शित कर दी। वह व्यवस्था जो सोवियत संघ जैसे राज्य का आधार है, तमाम मानव-जाति के विचारों और जीवन पर आगे भी प्रभाव डालती रहेगी।" 3 जून सन् 1944 को बंबई में सोवियत संघ के मित्रों की पहली अखिल भारतीय कांग्रेस हुई। भारत में सोवियत जनता के साथ जर्मन फासिस्टों के खिलाफ देशभक्ति का महान युद्ध लड़ रही वीर जनता के साथ दोस्ती का आंदोलन बढ़ाने के लिए यह सम्मेलन बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। इस सम्मेलन में बड़ा कार्यक्रम निर्धारित किया गया और सरोजिनी नायडू को 'सोवियत संघ के मित्रों के अखिल भारतीय संगठन, का पहला अध्यक्ष चुना गया। उपनिवेशवादी शासकों के दमन के कारण स्वयं सरोजिनी नायडू इस सम्मेलन में भाग न ले सकी थीं। फिर भी इस ऐतिहासिक कांग्रेस की आत्मा वही थीं। इससे पहले नवंबर, 1943 में जब सोवियत संघ के मित्रों के समाज, की बंबई शाखा ने वहां एक प्रदर्शनी का आयोजन किया, तो उसके नाम संदेश में सरोजिनी नायडू ने लिखा था कि समाज़वादी समाज के निर्माण में सोवियत जनता की महान उपलब्धियों और फ़ासिज्म के खिलाफ उसके वीरतापूर्ण संग्राम को देखकर भारतीय लोग दांतों

तले उंगली दबा लेते हैं। संदेश के अंत में उन्होंने लिखा था : "अपार बलिदान देकर सोवियत जनता केवल अपनी स्वाधीनता की ही रक्षा नहीं कर रही है, वह फ़ासिस्टों द्वारा बर्बर विनाश के खतरे से विश्व की सभ्यता को उसके गौरव को भी बचा रही है।"

सोवियत जनता के जीवन में, हमारे देश की संस्कृति में सरोजिनी नायडू ने हमेशा बड़ी रुचि ली। रूसी साहित्य से उनको प्यार था और लेव तोलस्तोय तथा मक्सीम गोर्की उनके विशेष रूप से प्रिय लेखक थे। गोर्की की मृत्यु पर जब अगस्त सन् 1936 में बंबई में शोक सभा हुई, तो उसका उद्घाटन करते हुए सरोजिनी नायडू ने कहा था : "भारत के लोग गोर्की को सबसे पहले इसलिए श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं कि उन्होंने करोड़ों लोगों को स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी। हमसे वे हमेशा कहा करते थे : "आप लोग आज़ादी हासिल कर सकते हैं।"

सरोजिनी नायडू के जीवन तथा कार्यों में और उनकी कविताओं में सोवियत लोग बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। स० सेवेर्त्सेव और अ० एप्पेल जैसे कवियों द्वारा अनूदित उनकी अनेक कविताएं हमारे यहां छप चुकी हैं। उनकी चुनी हुई कविताओं का संग्रह निकट भविष्य में मास्को में प्रकाशित होगा। लाट-वियाई भाषा में अनुवादित उनकी कविताओं का संग्रह पिछले साल रीगा में प्रकाशित हुआ। सरोजिनी नायडू की कुछ कविताओं का ताजिक भाषा में भी अनुवाद हुआ है और वे दुशांबे में छपी हैं। उनके जीवन और कृतित्व को लेकर रीगा की रिसर्च स्कालर सिगमा अन्क्रावा ने 1978 में मास्को में सोवियत विज्ञान-अकादमी के प्राच्यविद्या-संस्थान में शोध-प्रबंध का मंडन किया। आजकल वे इसी विषय पर पुस्तक लिख रही हैं। ताजिक राजकीय विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी भाषा-विभाग की प्रधान म० शाखोवोवा सातवें दशक के अंत में भारत गयी थीं और वहां से वे सरोजिनी नायडू के जीवन और रचनात्मक कार्यों के बारे में अनूठी सामग्री लेकर लौटीं।

भारत की इस अद्भुत नारी की जन्म-शती के उपलक्ष्य में मास्को के विदेश-मैत्री-भवन में समारोह हुआ। विख्यात कवयित्री और जन-नेत्री की सांस्कृतिक विरासत का अध्ययन करनेवाले, उसका प्रचार करनेवाले सोवियत विशेषज्ञों ने सभा में भाग लिया। सोवियत संघ में भारत के राजदूत श्री इन्द्रकुमार गुजराल ने उपस्थित लोगों के आगे भाषण किया। सोवियत देश की पत्र-पत्रिकाओं में इस अवसर पर सरोजिनी नायडू की कविताओं के नए अनुवाद और उनके बारे में लेख तथा शब्द-चित्र प्रकाशित हुए। सोवियत और भारतीय श्रोताओं के लिए रेडियो पर विशेष कार्यक्रम प्रसारित किए गए।

यशपाल और उनका 'झूठा सच'

एक से अधिक बार मुझे भारत में वर्षा ऋतु का आगमन देखने का अवसर मिला है।...बहुत लंबे समय से प्रकृति असह्य गरमी से पीड़ित रहती है, सूखी हुई पृथ्वी नमी और नए जीवन के लिए लालायित रहती है, हमेशा हरी रहने वाली वनस्पति सूखकर पतझड़ में नष्ट हो जाती है, उस समय धूल की मोटी परत जम जाती है और ऐसा लगता है जैसे जीवन बिलकुल स्थिर हो गया हो। और तब आकाश में बादल घुमड़ने लगते हैं। बिजली का तुमुल गर्जन तीव्र से तीव्रतर हो जाता है मानो वह नगाड़ों की ध्वनि और प्रकृति के पुनर्जीवन पर व्यक्त मनुष्यों की उल्लसित आवाजों में समाहित हो गया हो। तब हर ओर खुशी से भरे गीत सुनाई पड़ते हैं। और स्थान-स्थान पर, वर्षा के आगमन पर उल्लासपूर्ण पर्व वर्षामंगल का स्वागत करते, नाचते हुए मनुष्यों की भीड़ उमड़ पड़ती है। सचमुच वह नवजीवन का पर्व होता है; भविष्य की फसलों और नई आशाओं का पर्व।

बहुत-सी सुंदर और स्फूर्तिदायक कविताओं और गीतों की रचना भारत में हुई है जिनमें वर्षा और तूफान विश्व के पुनर्जीवन के प्रतीक बन कर आए हैं—एक ऐसे संसार के पुनर्जीवन के प्रतीक जिसमें हर जीवित वस्तु दुख और पीड़ा से मुक्त होगी। लेकिन वर्षा का तूफान एक क्षण में ही झुलसी हुई धरती को, जो इतने लंबे समय तक सूरज की धूप और गरमी से पीड़ित थी, नवजीवन नहीं दे सकता। प्रकृति एक क्षण में ही नहीं जागती और न ही भारत की समृद्ध धरती तुरंत ही हरी हो उठती है या पुनः सुंदर सुगंधित फूलों से ढक जाती है।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति आज भारतीय जनता की है जिसने महज कुछ वर्ष पहले ही उपनिवेशवादी गुलामी के घृणित बंधनों को उतार फेंका है। उपनिवेशवादी राज्य की दो शताब्दियों में जो जख्म भारत को लगे थे वे इतने गहरे थे कि बहुत थोड़े समय में ही नहीं भर सकते थे, न ही अपने अभिशप्त अतीत से वह इतनी जल्दी मुक्त हो सकता था। आज भी आंतरिक प्रतिक्रियावादी शक्तियां हैं जो भयंकर रूप से इस बात के लिए क्रियाशील हैं कि नए जीवन के लिए

भारतीय जनता के विकास को अवरुद्ध कर सकें। इन प्रतिक्रियावादियों को उन शोषकों या उपनिवेशवादियों से, जो भारतवर्ष के लिए एक नई दासता का षड़्यंत्र रच रहे हैं और उसे आर्थिक एवं राजनीतिक तौर पर आजादी से वंचित रखना चाहते हैं, संबंध बनाए रखने में कोई परहेज नहीं है।

भारत के प्रगतिशील साहित्य ने, जो अभिन्न रूप से भारतीय जन-जीवन से संबंधित है, जनता के मुक्तिकामी संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की और अब भी कर रहा है। कभी-कभी वे चीजें जो एक विदेशी की आंखों में छिपी रहती हैं इन भारतीय लेखकों की रचनाओं में अनुवीक्षण यंत्र जैसी बारीकी से स्पष्ट होती हैं। फ्रेडेरिक एंगिल्स ने एक बार लिखा था कि बाल्जक की 'ह्यूमेन कामेडी' से फ्रांस की सामाजिक स्थिति के बारे में, आर्थिक सूक्ष्मताओं की दृष्टि से भी, उसकी इतनी अधिक ज्ञानवृद्धि हुई थी कि तत्कालीन इतिहासकारों और सारे अर्थशास्त्रियों और गणितज्ञों की किताबों को मिलाकर भी नहीं हो सकती। मैं समझता हूं जो एंगिल्स ने बाल्जक के बारे में कहा है वही भारतीय लेखकों में प्रेमचंद और रवि ठाकुर पर लागू हो सकता है। सच ही इतिहास के शुष्क पन्नों से उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ के भारतीय समाज की यथार्थ और प्रभावशाली तस्वीर की तुलना नहीं की जा सकती जो टैगोर के 'गोरा', 'नौका डूबी' और 'घरे बाहिरे' तथ प्रेमचंद के 'रंगभूमि', 'गबन' और 'गोदान' में मिलती है।

रवींद्रनाथ और प्रेमचंद को मरे लगभग एक चौथाई शताब्दी बीत गई है। उन्होंने भारत के आधुनिक यथार्थवादी साहित्य के लिए एक मजबूत नींव तैयार की थी और बहुत-सी कृतियों का सृजन किया था जिनमें भारतीय जनता की राष्ट्रीय चेतना और उपनिवेशवादी दासता के विरुद्ध स्वतंत्रता-संग्राम के विकास को महाकाव्य जैसी गरिमा से प्रस्तुत किया गया था। आज भी भारत में बहुत से लोग हैं जो रवींद्रनाथ और प्रेमचंद की परंपरा को जीवित रखे हैं। उस महाकाव्य में नए-नए अध्याय जुड़ते चल रहे हैं और निकट अतीत की छवियां आंकी जा रही हैं। अधिक से अधिक नए नायकों का जन्म हो रहा है जो दुख भोगते हैं और पीड़ा सहते हैं। जो सत्य और बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष करते हैं। इन लेखकों की कृतियों को पढ़कर हम भारतीय जनता के भविष्य के बारे में सोचते हैं और हम भारतवर्ष को अपेक्षाकृत अच्छा समझने लगते हैं। उसके प्रति हम सम्मान की भावना से भर जाते हैं। और सामान्य जनता के लिए हमारे हृदय में प्रेम पैदा होता है, साथ ही उन समस्याओं को हम कहीं अच्छी तरह समझने लगते हैं जिनसे आज भारतीय समाज को जूझना पड़ रहा है। इसी प्रकार आज के महाभारत का निर्माण हो रहा है जो आकार में उस प्राचीन भारतीय महाकाव्य से कई गुना बड़ा है जिसके सर्जन में भारतीयों को कितनी

ही पीढ़ियों का योग रहा है। और तब जब कि रचनाकार अपनी कृतियों के परीक्षण का अवसर केवल शक्तिमानों एवं प्रभुतासंपन्नों को ही देते थे, आज साधारण जनता ही अपने लेखकों की सबसे बड़ी परीक्षक है।

आज के महाभारत के प्रमुख सर्जकों में एक कथाकार यशपाल हैं और जैसा कि एक आलोचक ने प्रेमचंद की मृत्यु के पश्चात कहा था कि कुछ अन्य लेखकों के साथ यशपाल ने भी हिंदी साहित्य में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त किया है और प्रेमचंद के रिक्त स्थान की पूर्ति की है।

यशपाल का पहला उपन्यास 'दादा कामरेड' 1941 में आया। उससे उनके विचारों का परिवर्तन स्पष्ट होता है। संघर्ष के आतंकवादी ढंग से उनकी आस्था उठ गई है, हिंसात्मक विरोध के सिद्धांत की उन्होंने कटु आलोचना की है। और मार्क्सवाद के प्रति बढ़ती हुई आस्था भी उसमें स्पष्ट हुई है। उपन्यास की भूमिका में उन्होंने साहित्य के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि उसका उद्देश्य जनता के हितों की रक्षा करना है। 1943 में 'देशद्रोही' आया और 1945 में ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' (जिसका रूसी अनुवाद 1960 में प्रकाशित हुआ)। 1946 में उन्होंने 'पार्टी कॉमरेड' लिखा, 1949 में 'मनुष्य के रूप' और 1956 में 'अमिता'। इन उपन्यासों में 35-50 के बीच के भारतीय समाज का यथार्थ चित्र मिलता है। यशपाल के उपन्यासों की अतिशय प्रसिद्धि, उनका कलात्मक स्तर तथा शैक्षिक मूल्य इस तथ्य में निहित है कि यशपाल का जीवन जनता के जीवन से बंधा है, कि वह अपने समय की आवाज को सफाई से सुनते हैं और उनकी दृष्टि भविष्य पर स्थिर रहती है। 'मेरे साहित्यिक कार्य-कलाप हमेशा ही राजनीति से अभिन्न रहे हैं।' यशपाल स्वयं कहते हैं : "मेरे लिए वे दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं जो मुझे मेरे अविष्ट उद्देश्य की सिद्धि में सहायता देते हैं, मेरा उद्देश्य है जनता के हितों की रक्षा करना। जब मैं सक्रिय क्रांतिकारी था तब भी मैंने कलम को छोड़ा नहीं और जेल में भी लिखता था क्योंकि मैं समझता हूं कि साहित्य विद्रोह की भावना पैदा करने का एक साधन है और उससे जनता की क्रांतिकारी चेतना विकसित होती है।"

यद्यपि यशपाल के उपन्यासों में कथावस्तु के संगठन का अभाव खटकता रहता है लेकिन जब उन पर समग्र रूप से विचार करते हैं तो उनमें एक निश्चित एकता के दर्शन होते हैं। वह उस काल की भारतीय जनता की यथार्थ और प्रभावशाली छवियां हैं जब उसका मुक्तिकामी संघर्ष और उपनिवेशवाद का पतन अपनी चरम सीमा पर थे। वे स्वाधीन भारत के प्रथम चरण की कहानी कहते हैं जबकि पीड़ा और संघर्ष के बीच भारत में नए मनुष्य का जन्म हो रहा था और उसकी शक्ति बढ़ रही थी।

1947 का वर्ष भारत के आधुनिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण संधिकाल

है—एक ऐसा वर्ष जब उपनिवेशवाद का अंत हुआ। पुरानी पीढ़ी का कोई भी लेखक इस महत्त्वपूर्ण घटना की ओर से उदासीन नहीं रहा है, जिसने भारतीय जनता के भविष्य में और संपूर्ण मनुष्यजाति को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। मुझे याद है जब 1955 में यशपाल ने हमारे देश की यात्रा की थी तो बताया था कि वह 1947 की घटनाओं और अपने साथी पंजाबियों के दुर्भाग्य पर, जिन्होंने अपने मित्रों संबंधियों को खोया, अपने घर और जायदाद को छोड़ा तथा रोटी और जीवन की साधारण खुशी के लिए समूचे भारतवर्ष में भागे, और बंटवारे का वह भयंकर तूफान जिसकी लपटों ने पांच लाख से अधिक आदमियों को निगल लिया, के आधार पर वह एक उपन्यास लिखने की योजना बना रहे हैं।

1958 की शरद ऋतु में बहुत से भारतीय लेखकों के साथ अफ्रीकी-एशियाई लेखक-सम्मेलन में यशपाल ताशकंत आए। वे अपने साथ अपना नया वृहदाकार उपन्यास 'झूठा सच' लाए जिससे उस समय की मुद्रण की स्याही की गंध आ रही थी। इस उपन्यास का प्रकाशन समकालीन भारत के सांस्कृतिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उस पर बहुत-सी चर्चाएं हुईं जिनसे स्पष्ट होता है उपन्यास ने लोगों की रुचि को उकसाया है। 1957-58 में वह धारावाहिक रूप से 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ था और एक बार जब पत्रिका का एक अंक किसी कारणवश नियमित किस्त के बिना ही निकला तो यशपाल को लगभग 700 पाठकों के इस आशय के पत्र मिले थे कि उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन बंद नहीं होना चाहिए।

कथावस्तु के विस्तार, समस्या के महत्त्व एवं गहराई तथा महान सामग्री के क्षेत्र की दृष्टि से उपन्यास की तुलना सोवियत साहित्य में मिखाइल शोलोखोव के उपन्यास 'क्वाइट फ्लोज द डान' या अलेक्सी तोल्स्तोय के 'रोड टू कैलवरी' से की जा सकती है। 'झूठा सच' आधुनिक भारत के इतिहास के महत्त्वपूर्ण दशकों में से एक के भारतीय बुद्धिजीवियों के भाग्य एवं भारत के भविष्य के विचारों की एक यथार्थ तथा मार्मिक गाथा है। अपने साथी देशवासियों के जीवन को एक विशाल पट पर अंकित करने में यशपाल एक तटस्थ निरीक्षक मात्र नहीं हैं। हर जगह और चीज़ में आप बहुत गहराई तक संबद्ध एक कलाकार की आवेशपूर्ण आवाज़ सुन सकते हैं जो क्रोध के साथ झूठ और अन्याय को उघाड़ता है तथा जनता के पाखंडपूर्ण झूठे मित्रों का पर्दाफाश करता है। उसने अपने को सदा के लिए झूठ-सच से मुक्त कर लिया है और वह जनता और उसके बेहतर भविष्य में गहरी आस्था रखता है। यशपाल की दृष्टि बहुत सूक्ष्म और अंतर्भेदी है, भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों और अप्रगट रहस्यों को वह गहरे तक वेधती है। विकासशील शक्तियों और प्रतिक्रियावादी ताकतों, सच और झूठ एवं नए

और पुराने का भीषण और निर्दय संघर्ष वे हर कहीं देखते हैं। संघर्ष की यह उत्सुकता ही उपन्यास को भावपूर्ण यथार्थ और राजनीतिक दृष्टि से तीखा बनाती है।

उपन्यास के दो प्रमुख पात्रों, जयदेवपुरी और उसकी वहन तारा, के प्रारब्ध में, वास्तव में भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा तय किए गए दो रास्तों के संकेत निहित हैं। एक रास्ता अपने भले और निजी स्वार्थों के लिए जनता के प्रति विश्वासघात का है, दूसरा जनता में देश के प्रति सच्ची और भावपूर्ण सेवा का है। इन पूरी तरह से विरोधी मार्गों पर हम और बहुत से पात्रों से मिलते हैं जो इन प्रमुख चरित्रों के चारों ओर एकत्र हैं। उपन्यास के शुरू में जयदेव और तारा से हमारी भेंट लाहौर की गलियों में होती है जहां हिंदू और मुसलमान पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छे पड़ोसियों की तरह रहते रहे हैं। दोनों ही भाई-वहन बेहतर भविष्य की आशा करते हैं, ऐसी शिक्षा के सपने देखते हैं जिससे जनता का कार्य और उसकी भलाई कर सकें। तारा की दृष्टि में उसका बड़ा भाई सत्य का पक्षधर, निर्दय और साहसी देशभक्त है, जीवन के कठिनतम क्षणों में जिससे उसे कवच जैसी सुरक्षा की आशा है। लेकिन कुछेक प्रारंभिक परीक्षाएं, अभाव और बेरोज़गारी, उसके साहस को विखेर देती हैं, वह अपनी वहन को भाग्य के सहारे छोड़ देता है और मुख्य रूप से अपने में ही व्यस्त हो जाता है। अपनी वहन के दुर्भाग्य को वह चुपचाप देखता है, जिसकी शादी जबरन आवारा सोमराज से कर दी जाती है और वह समाज की प्राचीन वहशी परंपराओं के विरोध में खड़ा तक नहीं होता है। अपने अंतःकरण से उसका यह पहला सौदा उसके क्रमशः होने वाले पतन का आरंभ-विंदु है। 1947 की गर्मियों में धार्मिक कट्टरता की एक लहर भारत में आई थी। पंजाव में वह अपनी चरमसीमा पर पहुंची जो रक्तपात और अपराधों, डकैतियों, हिंसा, अंधी घृणा और अमानुषिक निर्दयता की रंगभूमि वन गया था। उपन्यास के वहुत से पात्र इस खून की नदी में वहे, उन्मत लहरें बहुतों को निगल गईं। लेकिन अपने पूर्व-परिचित सूदजी का हाथ पकड़ कर जिन्होंने समय पर उसकी सहायता की, जयदेव को आश्चर्यजनक रूप से किनारा मिल गया। सूदजी जीवन की बहुत हिसाब-किताब से दौड़ दौड़ाते हैं और पुरी को वह अपने मोहरे की तरह इस्ते-माल करना चाहते हैं। जयदेव एक प्रेस का मालिक और पत्रिका का संपादक वन जाता है। नौजवानी में देखे गए कर्तव्य और जनसेवा तथा स्वतंत्र और स्फूर्तिदायक साहित्यसर्जन के सपने वह भूल जाता है। वह अपनी प्रतिभा को नष्ट कर देता है। खुशहाली और समृद्ध जीवन की महत्त्वाकांक्षा उसकी श्रेष्ठतम भावनाओं और उसके अंदर के संपूर्ण जीवित और मानवीय तत्त्वों की हत्या कर देती है। ऐसे जीवन के लिए वह अपनी कलम को पुलिस के डंडे में वदल देने

को भी तैयार है। संपत्ति उसे पूरी तरह से गुलाम बना लेती है और एक रीढ़-हीन अवसरवादी में बदल देती है, जिसके लिए जीवन में कुछ भी पवित्र नहीं रह गया है। हर चीज से लाभ कमाने की अपनी कोशिशों में वह झूठ बोलता है, आडंबर रचता है और अपने आसपास के हर आदमी को धोखा देता है। वह दुर्भाग्यग्रस्त उर्मिला का जीवन बर्बाद करता है, अपनी बहन तारा को बदनाम करता है और कनक का जीवन असहनीय बना देता है, जिसने कभी उसे प्यार किया था और अपने माता-पिता की मरजी के खिलाफ़ भी उससे शादी की थी।

सूद बेहद मक्कार, कपटी, हिसाबी, गुटबाज और घृणित पात्र है। उस जैसे व्यक्ति आज के भारत में समाज की वास्तविक बुराई हैं। आप उसके अंदर जल्दी ही झांक कर नहीं देख सकते, उसके अंदर जो भी सड़ा और दुर्गंधपूर्ण है उसे देखने के लिए हर समय दरकार है। ऊपरी तौर पर वह एक देशभक्त है, अंगरेजी शासनकाल में वह जेल भी जा चुका है। वह कांग्रेस का सदस्य है और खद्दर की धोती तथा गांधी टोपी पहनता है। सुबह से शाम तक वह जनसेवा में व्यस्त रहता है। हर कहीं वह प्रजातंत्र, स्वतंत्रता, विश्वबंधुत्व और समानता पर भाषण देता है लेकिन दरअस्ल राजनीति उसके लिए एक साधन है जिसे वह अपने निजी स्वार्थों के लिए इस्तेमाल करता है। दुर्भाग्य से आज के भारत में भी सूदजी जैसे लोगों का अभाव नहीं है। शब्दों में वे जनता की भलाई और प्रजातंत्रात्मक भारत की उन्नति के लिए बड़बड़ाते हैं लेकिन कर्मों में वे अपने देश के हितों को साम्राज्यवादियों के हाथों बेचते हैं। यही वे लोग हैं जो भारत की स्वतंत्र आत्मनिर्भर विदेशी नीति के मार्ग में बाधा डालते हैं। भारत को शांति और विकास के मार्ग पर खींचने की कोशिश करते हैं और आक्रामक गुटों से न मिलने की उसकी नीति को उसे तोड़ने के लिए विवश करते हैं। यही वे लोग हैं जो सरकारी क्षेत्र में राष्ट्रीय मितव्ययिता के विकास का तीव्र विरोध करते हैं तथा उद्योगधंधों के राष्ट्रीयकरण सहयोगी कृषि और आर्थिक योजनाओं के मार्ग में रोड़ा अटकाने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए ये लोग आयोग के काम न करके पूर्णतया वैज्ञानिक कार्य करें जिसका देश के अर्थविकास की व्यावहारिक समस्याओं से कोई संबंध नहीं है। और जब यह वैज्ञानिक देशभक्त धन के लालच-भरे प्रस्तावों के लिए कोरा उत्तर दे देता है जो सूदजी अपने जयदेव और सोमराज की सहायता से उसके विरुद्ध एक घृणित षड्यंत्र प्रारंभ करते हैं। बदमाशों का यह गिरोह जब ऐसा करने को ही होता है, तारा ने भी समझौता करने की योजना बनाता है, जो अपनी सारी परीक्षाओं और परेशानियों के बाद जनता की सेवा और डा० नाथ के प्यार में मग्न है। सूद जयदेव और सोमराज जैसे क्षुद्र राजनीतिज्ञों, भ्रष्ट पत्रकारों, षड्यंत्रकारियों और जनता की संपत्ति को लूटनेवाले लोगों

के पीछे हमें साम्राज्यवाद की बर्बर छाया दिखाई पड़ती है, जो भारतीय जनता की आवश्यकताओं की ओर से एकदम बेखबर हैं।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के भारत छोड़ने पर गणतंत्र घोषित किया गया और भारतीय अपने जीवन के स्वामी बने। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के लिए अनिवार्य दशाएं पैदा कर दी गईं। लेकिन सब कुछ के बावजूद भारतीय समाज के पुनर्जन्म की प्रक्रिया बहुत ही धीरे-धीरे चल रही है। उपनिवेशवादी दासता का घृणित जुआ उतार कर फेंक देने के बाद भी क्या चीज ऐसी है जो नये जीवन की ओर भारतीय जनता के द्रुत विकास को बाधा दे रही है। इस और ऐसे ही अन्य प्रश्नों के उत्तर हमें उपन्यास में मिल जाते हैं। सूदजी और उनके मित्रों की संख्या आज भी भारत में कम नहीं है। धार्मिक परंपराएं नौजवानों को प्यार करने की आजादी नहीं देतीं जिसके परिणामस्वरूप वे पारिवारिक जीवन की खुशी से वंचित रहते हैं। इन रूढ़ियों का अनुसरण करके माता-पिता स्वयं अपने बच्चों की शादियां तय करते हैं, उनकी इच्छाओं और भावनाओं की ओर बिना कोई ध्यान देते हुए। अनिवार्य रूप से ऐसे विवाह बोझ बन जाते हैं। शीला रतन को प्यार करती है लेकिन कोई भी इस ओर ध्यान नहीं देता है और जबरदस्ती उसकी शादी दूसरे आदमी के साथ कर दी जाती है। एक सुखी परिवार के बावजूद इसका नतीजा निकलता है एक टूटी हुई जिंदगी। यह केवल संयोग की ही बात है कि तारा ऐसे आदमी से विवाह करने से बच जाती है जिससे वह घृणा करती है। और फिर कंपन महसूस किए बिना बंती की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु की याद करना असंभव है। शरणार्थियों की भयंकर बाढ़ में वह अपने पति और पुत्र को खो बैठती है और अंत में बहुत-सी परेशानियों के बाद उसे अपना परिवार मिलता है। लेकिन उसके घर के दरवाजे उसके लिए हमेशा के लिए बंद हैं क्योंकि उसका धर्म उसे इस बात की अनुमति नहीं देता कि वह अपने पति के बिना मालूम हुए घर छोड़ दे, वहां फिर घुस सके। दुख से कातर बंती अपने घर की चौखट से अपना सर टकराती रहती है। यह देखकर कि वह मर चुकी है, उसका पति और सास दरवाजा खोलते हैं और देवताओं की कृपा के गीत गाकर वे 'उस दुर्भाग्यग्रस्त नारी के शव को ठिकाने लगाते हैं।'

और वे व्यापारी और साहूकार जो अभागे शरणार्थियों को लूटते हैं क्या सूदजी के ही भाई-बंधु नहीं हैं? अपने ही पीड़ित देशवासियों की निराशाजनक स्थिति का लाभ उठाकर दूसरों के दुर्भाग्य पर सौदा करके एक गीत के लिए उनकी बची-खुची चीजें भी खरीद लेते हैं। देशभक्त लोग अपने लाखों देशवासियों, जिनके पास न जगह है, न काम और न जीवन-रक्षा के लिए उपाय ही, की हालत सुधारने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखते। उन लोगों के लिए विशेष कैंप खोल दिए गए हैं और रुपया, कपड़े तथा खाना इकट्ठा किया जाता है,

लेकिन यहां भी सूदजी के संगी-साथियों की कमी नहीं है। प्रसादजी और उन जैसे अन्य व्यक्ति हितचिंतक का रूप धारण करके शरणार्थी कैंपों में आते हैं। लेकिन इन लोगों के भाग्य की ओर से वे पूर्णतया उदासीन है। उनका उद्देश्य महज़ अपना लाभ साधना है, दुर्भाग्यग्रस्त भाई-बहनों की भ्रातृत्वपूर्ण सहायता के लिए दुर्जन नेताओं जैसा भाषण भर देना। स्त्रियों की ओर वह विशेष ध्यान देता है और वह भी खासतौर से उनकी ओर जो जवान और सुंदर हैं। दुर्भाग्य से प्रसाद जी अकेले नहीं हैं, अवस्थीजी हैं, मिसेज पंत हैं, अगरवाल दंपति हैं और उन्हीं की भांति और बहुत से जनता के सेवक हैं। क्या भारत के लोग इन व्यक्तियों से वास्तविक सहायता की आशा कर सकते हैं जो अपने ही देशवासियों के कष्टों और दुर्भाग्य के प्रति पूरी तौर से उदासीन हैं, जो अपनी राष्ट्रीय संस्कृति से घृणा करते हैं और जिन्हें अपनी मातृभाषा में बोलने तक में शर्म आती है ?

सचमुच भारत को आज भी बहुत-सी परेशानियों का अनुभव हो रहा है। जनता आज भी गरीब है। राष्ट्रीय संपत्ति से खुद को लाभ पहुंचाने वाले बहुत से अवसरवादी और निकम्मे लोग देश में भरे हैं और अभिशप्त प्राचीन अवशेषों की जड़ें बहुत गहरी हैं, बहुत कुछ यही निष्कर्ष हैं जो उपन्यास को पढ़ने पर निकलते हैं। लेकिन यशपाल अपने आपको जीवन का केवल निषेधात्मक चित्रण करके ही सीमित नहीं कर लेते हैं। वे बुराई और झूठ का पर्दाफाश करके केवल यथार्थ की बदसूरत अभिव्यक्ति की तीव्र आलोचना मात्र नहीं करते हैं, वे वर्तमान से भिन्न एक बेहतर जीवन का स्वप्न भी देखते हैं, जब जनता सुखी होगी और उनका अरसे से पीड़ित देश समृद्ध होगा। उनके ये सपने निराधार नहीं हैं। आज के भारत में हर कही उन्हें ताज़गी और जवानी दिखाई देती है। जीवनदायिनी नमी के प्रथम स्रोतों को सोख कर उनके देश की मिट्टी से पहली कोंपलें छूटने लगी हैं। धूप के लिए उन्हें कठोर जीवन का सामना करना पड़ रहा है सख्त और सूखी हुई जमीन के अंदर से रास्ता बनाना पड़ रहा है। लेकिन अब उनके विकास को कोई रोक नहीं सकता और कोई भी खुश्की भारत की मिट्टी पर पकने वाली उल्लास और समृद्धि की उनकी फसल को सुखा नहीं सकती। भविष्य उसी का है। यही कारण है कि यशपाल ने उपन्यास के उत्तरार्ध का नाम 'देश का भविष्य' रखा है। यद्यपि सूदजी, जयदेव और प्रसाद जैसे लोग आज भी शक्तिशाली हैं, उनके विरुद्ध संघर्ष करना आज भी आसान नहीं है; लेकिन वे सब झूठे सच के उपासक हैं; जिसका स्थान अनिवार्य रूप से वास्तविक सच लेगा। उपन्यास का यही मुख्य सैद्धांतिक कथ्य है और उसमें ही उसकी प्रमुख प्रेरणा, उसका महान जीवित सत्य निहित है।

ये कौन लोग हैं जिनके हाथ में भारत का भविष्य है ? ये बहुत से लोग हैं, सूदजी जैसे लोगों से कहीं अधिक। ये वे भूखे लोग है जो अपनी रोटी का आखिरी

टुकड़ा भी शरणार्थियों को देते हैं। ये साहसी नवयुवक और नवयुवतियां हैं जो धार्मिक कट्टरता की आग को बुझाने के लिए कृतसंकल्प हैं। ये वोट डालने वाली साधारण जनता है, जो सूदजी तथा उन जैसे और लोगों का विरोध करती हैं। उपन्यास के अंत में डा० नाथ का स्वगतकथन पूरी तौर से प्रतीकात्मक है। इससे विश्वास होता है कि जनता निर्जीव नहीं है, सदा मूक भी नहीं रहती। 'देश का भविष्य नेताओं और मंत्रियों की मुट्ठियों में नहीं, देश की जनता के हाथ में है।'

यशपाल की सहानुभूति पूर्णतया उन लोगों के साथ है जो जनता की सेवा करते हैं और उसके हितों को देखते हैं। तारा बहुत सहती है लेकिन कष्टों से वह टूटती नहीं है, कठोरताओं से संघर्ष करते-करते वह जैसे धातु-सी सख्त बन जाती है, उसके चुने हुए रास्ते से कुछ भी उसे हटा नहीं सकता। उसका मार्ग भारत के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का मार्ग है, जो अपने राष्ट्रीय कर्तव्यों को समझते हैं। उसका पूरा जीवन जनता की सेवा और हितों के लिए समर्पित है। वह सीता की मानवीय गरिमा को समझती है, उसकी सहायता करती है और उसे उसकी जड़ से जिसमें उसे प्रसाद और अवस्थी जैसे लोगों ने ढकेल दिया है। उसकी सहायता से ही शीला के अंदर वह साहस पैदा होता है कि वह अपने घृणित पति को छोड़ कर उस आदमी से शादी करती है जिससे वह वाकई प्रेम करती है। यह दृढ़ इच्छाशक्ति और सिद्धांतों वाली स्त्री भारत सरकार में एक महत्त्वपूर्ण पद पा कर घूसखोरों और जनता की संपत्ति को लूटने वालों के विरुद्ध एक शक्तिशाली जिहाद छेड़ देती है और हर मुमकिन तरीके से जनता की दशा सुधारने की कोशिश करती है। अपने इस महान कार्य में उसे बहुत-सी परेशानियों का और बाधाओं का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी वह पराजित भी होती है, लेकिन वह कभी निराश नहीं होती और न ही अपनी आस्था और विश्वासों के प्रति विश्वासघात करती है। तारा की तरह और बहुत से लोग हैं : अर्थशास्त्री डा० नाथ जिसने अपने को भारत की प्रगति से जोड़ लिया है और जो जनता की भलाई और हितों के लिए प्रतिश्रुत है। डा० श्यामा और पत्रकार कनक तथा गिल, इंजीनियर नरोत्तम और नर्स मर्सी ये सभी ईमानदार और साधारण लोग हैं। यद्यपि उनका भाग्य, सामाजिक स्तर और पेशे अलग-अलग हैं और वे विभिन्न उम्रों के भी हैं लेकिन उनमें एक बात समान है अपने देश और जनता के प्रति जिम्मेदारी की भावना और यह भावना ही उनके जीवन, विचारों और इच्छाओं का प्रमुख प्रयोजन बन गई है। इन लोगों में कम्युनिस्ट भी हैं, जो भारत के बेहतर भविष्य के पवित्र उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील हैं। यंत्रणा, झूठे आक्षेप और मौत कुछ भी उन्हें अपने कर्तव्य से रोक नहीं सकता। कट्टर और उन्मत्त धर्मांधता के बीच नौजवान असद और उसके दोस्त हैं और जब वे इस धार्मिक कट्टरता के अप-

राधों को रोकने की कोशिश करते हैं तो उनमें से बहुत से मारे जाते हैं और बहुतों को जेल में डाल दिया जाता है। लेकिन वे लोग सत्य के लिए उसी दृढ़ता से लड़ते रहते हैं। जो कुछ भी देश में हो रहा है उसे उभारने तथा अपने दोस्त और दुश्मन की पहचान में वे जनता की सहायता करते हैं। साथ ही साथ यशपाल भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन की कमियों की ओर भी इशारा करते हैं और सबसे अधिक सांप्रदायिक भावना की ओर जो पांचवे दशक के प्रारंभ में कुछ कम्युनिस्टों में उभर रही थी। उपन्यास में चड्ढा सच्चा मार्क्सवादी है जिसमें जनता के हितों की खातिर लड़ने के लिए इस्पात जैसी सैद्धांतिक दृढ़ता है।

भारत के प्रक्रियावादी लोग ऐसे सारे लोगों से भयंकर घृणा करते हैं और उन्हें बदनाम तथा कलंकित करने का कोई मौका नहीं छोड़ते क्योंकि वे खूब अच्छी तरह समझते हैं कि भविष्य उनका नहीं है, तारा, नाथ, श्यामा, चड्ढा और उनके मित्रों का है। यशपाल के उपन्यास के विधायक चरित्र उन तथाकथित आदर्श नायकों से मूल रूप से भिन्न हैं जो भारतीय साहित्य के बहुत से प्रसिद्ध लेखकों, प्रेमचंद और दूसरे बहुत से भारतीय लेखकों को अत्यंत प्रिय है जो समाज की घृणित शक्तियों और रूपों के विरोध में संपूर्ण मनुष्य, अपने सामाजिक आदर्शों के वाहक, विधायक गुणों की साकार प्रतिमाओं को सामने लाते हैं। तारा, नाथ, शीला, कनक और चड्ढा जैसे लोग आज भारत में हर कहीं मिल सकते हैं। वे यशपाल के दिमाग की उपज नहीं हैं, बल्कि ठोस और यथार्थ मनुष्य हैं। हमारी उपलब्धियों पर उल्लसित होते ऐसे व्यक्ति सोवियत रूस में भी मिल सकते हैं, ऐसे लोग दुनिया के सारे देशों में शांति और मित्रता के लिए हमारे कंधे से कंधा मिलाकर चलते हैं। यशपाल हमें उन सब लोगों से परिचित कराते हैं जो वाकई नेक और सच्चे हैं, जो नए भारत के निर्माण के लिए सन्नद्ध उनके साथी योद्धा हैं वे उनके मित्र परिचित देशवासी हैं जिनके बीच वे रहते हैं और एक लेखक के नाते जिनके चरित्रों और भाग्यों का अध्ययन करते हैं।···

अभी हाल में ही मेरी यशपाल से भेंट हुई थी। बहुत से लोग वहां उपस्थित थे। बातचीत उनके उपन्यास 'झूठा सच' और उनके आलोचकों को लेकर चल पड़ी। यशपाल ने कहा : 'कुछ लोगों को उपन्यास पसंद नहीं आया।···उन्हें वह बहुत सीधा लगा। और कुछ लोगों को वह इसलिए पसंद नहीं आया क्योंकि सूद और जयदेव में उन्हें अपने ही चेहरे दिखाई दिए···आपको मालूम है, शताब्दी के दूसरे दशक में एक रूढ़िवादी ने धर्मशासकों के विरोध में लिखी प्रेमचंद की एक कहानी पढ़कर उन पर मुकद्दमा दायर कर दिया था, क्योंकि उसने यह समझा था कि इस कहानी में व्यक्तिगत रूप से उसे ही कलंकित किया गया था।'

सचमुच भारत में वर्षा ऋतु प्रारंभ हो गई है, सूखी हुई पृथ्वी पर जीवन-

दायिनी बारिश की पहली बौछार पड़ चुकी है। लेकिन जमीन को जोतने और सूखे हुए टीलों को तोड़ने के लिए समय अपेक्षित है और अच्छी तथा समृद्ध फसल के लिए सिंचाई की खाइयां और नहरें जरूरी हैं।...यशपाल एक इसी प्रकार के किसान हैं। उनका समस्त सर्जनात्मक कृतित्व और जीवनव्यापी संघर्ष नए भारत के निर्माण के पवित्र हित में समर्पित है।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

सन् 1959 में इन पंक्तियों के लेखक को भारत के प्रसिद्ध नगर इलाहाबाद (प्रयाग) जाने का अवसर मिला, जो आधुनिक हिंदी साहित्य का केंद्र है और एक प्राचीन तीर्थस्थान है। गंगा की निर्मल, पारदर्शक जलधारा के ढलाऊ रेतीले किनारे, त्रिवेणी से कुछ दूर जहां गंगा की धवल और यमुना की कृष्ण जलधाराओं का परस्पर संगम होता है, जहां हजारों यात्री स्नान और अपने धार्मिक-कृत्य पूर्ण करते हुए देखे जाते हैं; वहां ही अपनी संकरी, टेढ़ी-मेढ़ी गलियों और मार्गों से मिट्टी के बने मकानों, मंदिरों, प्रार्थनागृहों और छोटे-छोटे व्यापारियों की दुकानों की पंक्तियों के साथ प्रयाग का यह प्राचीन नगर फैला हुआ है। निराला यहां ही तीस वर्ष से लगातार निवास कर रहे थे।

मैं अनेक वर्षों से भारत के कवि के काव्य का अध्ययन करता आ रहा हूं और चिरकाल से मेरी यह उत्कट अभिलाषा थी कि मैं इस महान् व्यक्ति के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करूं, जिसे उसके देशवासी 'महाकवि' के नाम से पुकारते हैं। मुझे इलाहाबाद में एक दिन ही रहना था। अतः, संध्या समय ही मैं अन्य सब कार्यों से छुट्टी पाकर नगर की इस प्राचीन बस्ती की ओर जा सका। हिंदी के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत, रामकुमार वर्मा और गिरिजाकुमार माथुर ने मुझे अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने मुझे पहले ही बता दिया था कि आजकल कवि निराला अपनी भयंकर बीमारी के कारण वर्षों से रोगशय्या पर पड़े हैं। उनकी बीमारी पहले से अधिक विषम हो गई है, जिसके कारण वह कभी-कभी बेहोश हो जाते हैं।

देर तक पुराने प्रयाग की तंग, टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटकने के बाद अंत में हम एक छोटे से पुराने मकान पर पहुंचे। द्वार पर निराला साहित्य समाज के एक नवयुवक सदस्य ने हमारा स्वागत किया। वह हमें शय्याग्रस्त रुग्ण कवि के पास ले गया। हम कमरे में पहुंचे जो दीपक के मंद, पीले प्रकाश से आलोकित था। पास में एक छोटी-सी तिपाई पर पीतल का एक जलकलश रखा था। बराबर में कुछ पुरानी कुर्सियां पड़ी थीं। दीवार के बराबर एक अलमारी में बीस या तीस

के करीब पुस्तकें रखी थीं और एक नीची, चौड़ी-सी खाट कोने में बिछी थी—बस ले-दे कर कमरे में यही सीधा-सादा समान था। खाट पर अपने बड़े-बड़े हाथों को आड़े रखे और छाती पर सिर ढलकाए एक व्यक्ति बैठा था। यही महाकवि निराला थे।

कवि के चेहरे से चरम शांति और क्लांति टपक रही थी। परंतु जैसे ही उन्होंने अपना उन्नत ललाट और सुंदर, सुघड़, सघन केशराशियुक्त ग्रीवा ऊपर उठाकर हमारी ओर देखा, हमारे ऊपर भयंकर रोगग्रस्त व्यक्ति का पड़ा पहला प्रभाव सहसा विलुप्त हो गया। उनकी विस्मयपूर्ण और गंभीर अभिव्यक्तिपूर्ण बड़ी-बड़ी आंखें हमारे ऊपर जादू कर रही थीं और अपनी अदम्य शक्ति तथा तारुण्य से हमारे हृदय को आर-पार वेधती हुई हमें परास्त कर रही थीं।

हमने अभिवादन किया और उनकी शय्या के निकट पहुंचे। अभिवादन के उत्तर में उन्होंने सिर हिलाकर हमें कुर्सियों पर बैठने के लिए संकेत किया। हम सब बैठ गए। मैंने कवि निराला को बताया कि पिछले वर्षों में सोवियत संघ में उनका नाम विख्यात हो गया है और उनकी अनेक कृतियों के रूसी भाषा में अनुवाद अनेक संस्करणों में प्रकाशित हुए हैं तथा निकट भविष्य में उनकी दो चुनी हुई गद्य और पद्य कृतियां भी प्रकाशित होने वाली हैं। मैंने उन्हें यह भी बताया कि उनके देशवासियों की तरह सोवियत जनता भी भारत के प्रगतिशील साहित्य में उनके योगदान का बड़ा आदर करती है। निराला के स्थिर चेहरे पर मुस्कराहट की एक लहर दौड़ गई। उनकी रुग्ण शय्या पर उनके मित्र और सहयोगी सुमित्रानन्दन पंत साथ ही बैठ गए, जिन्होंने उनके साथ संघर्ष का कठिन मार्ग तय किया था तथा जीवन में नाना प्रकार के कष्ट और अभावों को सहन करते हुए भी भारत में प्रगतिशील साहित्य का निर्माण किया था। सुमित्रानन्दन पंत ने उनके कंधों पर हाथ रखकर उनसे कहा कि 'कुछ सुनाओ'। "मैं तो आजकल बहुत थोड़ा लिखता हूं।"—निराला ने उत्तर में कहा। परंतु, कुछ क्षण में ही उन्होंने अर्धनिमीलित नयनों से मंद-मंद मधुर स्वर में अपना कविता पाठ शुरू किया। कविता के शब्दों से मैं समझ गया कि यह 'राम की शक्ति-पूजा' में से है। मुझे गिरिजाकुमार माथुर ने बताया कि यह निराला जी की प्रियतम कविता है और वह इसका अपनी मित्रमंडली में प्रायः पाठ किया करते हैं। मैंने देखा कि इससे निराला जी बिलकुल रूपांतरित हो उठे। उन्होंने अभिमान से अपना उन्नत मस्तक उठाया और जब उन्होंने महान् पौरुष और उदात्तता के शब्द उच्चारण किए, उनकी आंखें उत्साह से दीप्त हो उठीं।

निराला जी के इस कविता-पाठ को सुनकर मेरी समझ में आया कि जीवन और संघर्ष की उनकी इच्छा को कोई शक्ति भंग और परास्त नहीं कर सकती।

हमने निराला जी से विदा ली । भारतीय रीति के अनुसार उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पुनः छाती पर सिर झुलाकर अपने विचारों में डूब गए ।

कुछ समय हुआ, इलाहाबाद से मित्रों ने मुझे कवि निराला की नई कविताएं भेजीं जो 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं । इन जीवन-समर्थक और आशावादिता से लबालब दो छोटी, 'बादल का गीत' नाम की कविताओं को प्राप्त करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । इनमें निराला जी का व्यक्तित्व पूर्णतः झलकता है जो रुग्ण और एकाकी जीवन की सब बाधाओं और संकटों के बावजूद लोगों के लिए एक सौभाग्यशाली और आनंददायक जीवन के स्वप्न देख रहे थे, जिनमें 'बादल' अपनी आर्द्रता द्वारा लोगों को विषम-ताप से मुक्ति देता है और उनमें पुनः भविष्य की आशाएं जगा देता है ।

बरसो मेरे आंगन, बादल
जल-जल से भर दो सर, उत्पल ।
करो विकम्पित अवनी का उर,
भरो आम्र-पल्लव में नव सुर,
रंगो अधर तरुणी के आतुर
सींचो युवकजनों के हृत ।

निराला की इन पंक्तियों में भय अथवा निराशा नहीं, बल्कि जीवन के यौवन और उल्लास का समीर बह रहा है, देखिए—

फिर बेले की कलियां आईं,
डालों की अलियां मुस्काईं ।

भारत के अनेक विद्वान् साहित्यकारों ने निराला जी की कृतियों पर अनेक मनोरंजनपूर्ण और गंभीर अन्वेषण किए हैं । उनके साहित्यिक-श्रम का मूल्यांकन और आदर करते हुए मेरी अभिलाषा है कि मैं भारत के प्रसिद्ध साहित्यकार शिवदानसिंह चौहान के शब्दों को दोहराऊं कि निराला जी की काव्य-कृति का विशद मूल्यांकन उनके प्रिय मित्र और साहित्यिक साथी भारत के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत ही भली-भांति कर सके हैं, जिन्होंने अपनी कविता 'अनामिका' के द्वारा कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के प्रति, अपनी श्रद्धांजलि भेंट की है। उसका अ० अहमतोव ने रूसी भाषा में सुंदर अनुवाद किया है । हम सुमित्रानंदन पंत की उस कविता की कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत कर रहे हैं—

छंद बंद ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि तेरी कविताधारा

मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर-सी निःसृत,
गलित ललित आलोकराशि, चिर अकलुष, अविजित,
स्फटिक-शिलाओं से तूने वाणी का मंदिर
शिल्पि, बनाया ज्योति-कलश निज यश का धर चिर...
अमृत-पुत्र कवि, यशःकाय, तव जरा मरणजित,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तंत्री झंकृत।

सुमित्रानंदन पंत—कवि और व्यक्तित्व

सुमित्रानंदन पंत और निराला का अध्ययन मैंने 1950 के कुछ ही समय बाद शुरू कर दिया था। मैंने पंत की कविताओं के अनुवाद किए हैं, उनकी चुनी हुई कविताओं का संकलन करके दो पुस्तकें प्रकाशित करायी हैं और उन पुस्तकों में परिचयात्मक लेख लिखे हैं। पंत की रचनाओं पर मेरे कई लेख सोवियत संघ में और भारत में प्रकाशित हुए हैं। 1969 में दिल्ली की एक प्रकाशन कंपनी राजकमल प्रकाशन ने हिंदी में मेरी एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका नाम है 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और नवीनता।' मैंने अपना कई वर्ष में चल रहा शोध कार्य पूरा करके एक पुस्तक तैयार की है जो इस समय नौका पब्लिशर्स ने प्रकाशन के लिए ले रखी है और आशा है कि वह शीघ्र छप कर 1985 में बाज़ार में आ जाएगी।

पंत पर भारत में पंद्रह वर्ष पूर्व प्रकाशित मेरी पहली पुस्तक चूंकि भारत में दूर-दूर तक पढ़ी गयी है, इसलिए वे सब बातें यहां दोहराना ठीक नहीं होगा और यहां मैं पंत पर अपनी नयी पुस्तक के निष्कर्षों की ही चर्चा करूंगा जो अभी भारत में बाज़ार में नहीं आयी।

मैंने सुमित्रानन्दन पंत पर अपनी नवीनतम रचना पूरी कर ली है और मैं संक्षेप में पंत पर अपना मूल्यांकन प्रस्तुत करना चाहूंगा—न केवल एक उत्कृष्ट कवि के रूप में, जिसकी रचनाओं को सोवियत संघ में लोकप्रिय बनाने में मेरा बड़ा हाथ रहा है, बल्कि अपने एक पुराने और चहेते मित्र, सहयोगी और सहयोद्धा के नाते भी मैं उनका मूल्यांकन करूंगा।

मैंने पहली बार 1950 के बाद के वर्षों में पंत की रचनाएं पढ़ी थीं। उस समय हमने भारतीय साहित्य की रचनाओं के अनुवाद करना और बड़ी संख्या में उन्हें छापना शुरू ही किया था—उन दिनों सोवियत-भारत मैत्री बढ़ रही थी और भारत में सोवियत जनता की दिलचस्पी में वृद्धि हो रही थी। मास्को स्थित राजकीय ललित साहित्य प्रकाशन गृह हिंदी और उर्दू भाषा में लिखने वाले आधुनिक भारतीय कवियों की कृतियों का सर्वप्रथम संस्करण सोवियत संघ में

छापने में व्यस्त था। इन भाषाओं के सोवियत विशेषज्ञों की एक टोली कुछ सोवियत कवि-अनुवादकों की सहायता से अपने कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे हुए थे। पुस्तक का संपादन प्रसिद्ध सोवियत कवयित्री आदेलिना अदालिस को और मुझे करना था; मेरा काम संग्रह तैयार करना और उसकी एक परिचयात्मक भूमिका लिखना भी था। मुझे आज भी वह गर्मागर्म बहस याद है जो हममें इस प्रश्न पर हुआ करती थी कि सोवियत पाठकों को भारतीय कविता के अनुपम सौंदर्य और निराले स्वरूप का, जिसका कुछ अंश रूप और कथ्य की दृष्टि से बहुत कुछ जटिल है, सर्वोत्तम रीति से कैसे परिचय दिया जाए। एक ही कविता के कई अनुवादों की जांच की गयी और उनपर विचार किया गया। हमने यह अनुभव किया कि हमें भारतीय विशेषज्ञों की सहायता की सख्त ज़रूरत है जो सोवियत संघ में सुलभ नहीं थी। और सुमित्रानन्दन पंत वह पहले कवि थे जिन पर हमारा ध्यान गया। उनकी कविताओं ने अन्ना अख्मातोवा की दिलचस्पी जगायी थी—वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कृतियों के संग्रह के प्रथम सोवियत संस्करण के लिए रवीन्द्रनाथ की कृतियों का अनुवाद करने में लगी हुई थीं। मुझे आज भी याद है कि पंत की कविताओं के पहले शाब्दिक अपरिष्कृत रूप से भी अन्ना अख्मातोवा उनके और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य-संसारों के बीच मौजूद निकट संबंध पहचान गयीं।

यह संग्रह 'इंडियन पोएट्स' (भारतीय कवि) 1956 में प्रकाशित हुआ। उस वर्ष शरद ऋतु में मैं यूनेस्को के नवम बृहत्सम्मेलन में भाग लेने सोवियत प्रतिनिधि मंडल का सदस्य बनकर दिल्ली गया। वहीं मैं पहली बार पंत से मिला। मुझे आकाशवाणी पर हिंदी में प्रसारण करने के लिए कहा गया और मेरी भेंट रामचंद्र टंडन से हुई जो एक भारतीय लेखक और आकाशवाणी के हिंदी विभाग के अध्यक्ष थे। अपने भाषण की विषय-सामग्री पर बातचीत करते हुए मैंने टंडन जी को अपनी इस पुस्तक की एक प्रति दिखायी जिस पर हरे चमड़े की जिल्द दी और उसमें से अब भी छापे की स्याही की गंध आ रही थी। "शायद आप इस पुस्तक के बारे में हमारे श्रोताओं को बताएंगे। यह भी बताइए कि आपने यह पुस्तक किस तरह तैयार की" टंडन जी ने कहा। "हम यह प्रसारण एक गोलमेज़ बातचीत के रूप में व्यवस्थित करेंगे और सुमित्रानन्दन पंत को इसमें हिस्सा लेने के लिए निमंत्रित करेंगे। इस समय वे इसी अनुभाग में कार्य कर रहे हैं।" कहना न होगा कि मुझे यह स्वीकार करते हुए कितनी प्रसन्नता हुई। पहले जब हम मास्को में पुस्तक तैयार कर रहे थे तब मेरी कितनी इच्छा थी कि हम उनकी सलाह ले पाते! कितनी ही अनसुलझी उलझनें थीं, कितनी ही बातों का स्पष्टीकरण कराना था। उसी समय दरवाज़ा खुला और मस्त चाल से एक व्यक्ति भीतर आया। उसका बाहरी रूप चित्ताकर्षक था। वह मंझले कद वाला

दुबला सा आदमी था जिसके शांत भावमय चेहरे पर सफाई से तराशा हुआ अंग-प्रत्यंग था, आंखें चमक रही थीं, कंधों तक काले घुंघराले बाल लटके हुए थे, दो-चार सफेद बाल जहां-तहां शान से हिल रहे थे। उसका वेष ध्यानाकर्षक था, एक खास कटाई वाली रंग की जाकेट, खुले कालर वाली सफ़ेद-झक कमीज और सफ़ेद चुस्त पाजामा जो उन पर बड़ा फब रहा था। उस समय मुझे पंत जी की निराली पोशाक के बारे में कहीं पढ़ी हुई बात याद आयी।

पंत जी से रामचंद्र टंडन ने मेरा परिचय कराया, उन्हें मेरी पुस्तक दिखायी और उनसे पूछा कि जो प्रसारण कार्यक्रम हम करने जा रहे हैं, उसमें वे हिस्सा लेंगे या नहीं। पंत जी ने बाहरी दिलचस्पी से पुस्तक के पन्ने पलटे, प्रकाशन की क्वालिटी की प्रशंसा की और मुझसे कहा कि पुस्तकों में शामिल की गयी मेरी कविताओं के शीर्षकों का अनुवाद करके मुझे बताओ। पंत जी ने कहा कि इनमें अधिकतर मेरी आरंभिक कविताएं शामिल की गयी हैं जब मैं छायावाद की शैली में लिखता था। पंत जी ने पूछा कि सोवियत पाठक मेरी कविताओं के बारे में और निराला, बच्चन तथा अन्य हिंदी कवियों की कविताओं के बारे में क्या सोचते हैं। पुस्तक के उर्दू वाले खंड में पंत जी की नजर एक उत्कृष्ट कवि मुहम्मद इकबाल के नाम पर पड़ी और उन्होंने उसकी कविताओं की कुछ पंक्तियां सुनायी। मैंने उनसे कहा कि सोवियत पाठक भारतीय साहित्य पढ़ने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं क्योंकि इससे उन्हें एक नए, अब तक अज्ञात सौंदर्य-जगत का परिचय मिलता है, और इससे भारत तथा उसकी जनता के जीवन के बारे में और अधिक जानने में मदद मिलती है। थोड़ा सोचकर पंत जी ने कहा: "अच्छा हो कि रेडियो प्रसारण का कार्यक्रम कल रखें और आज शाम अगर आपको फुरसत हो तो टंडन जी और मैं आपको शाम के भोजन की दावत देते हैं और उसमें प्रसारण का कार्यक्रम भी तैयार कर लिया जाएगा। मुझे विश्वास है कि हमारी आपकी बातचीत इस कार्यक्रम के लिए और भी दिलचस्प होगी।" मैंने यह स्नेहनिमंत्रण धन्यवाद के साथ स्वीकार कर लिया। टंडन जी के घर पर पंत जी से रात को बड़ी देर तक बातचीत होती रही। हमारी बातचीत का मुख्य विषय साहित्य था।

सुनने के बाद ही असल में उनके रूप की अदोष उत्कृष्ठता और कवि के उच्च कोटि के कौशल को समझ और सराह सका। संवादी ध्वनियां, एक के बाद एक, इस तरह आती थीं कि उनसे एक सुंदर डिजाइन बन जाता था, और अपरिचित रिद्मों में चलती हुई वे बड़े अद्भुत संगीतात्मक चित्र प्रस्तुत करती थीं। पंत जी से कविताएं सुनते हुए मुझे अपने अनुवादों की सदोषता स्पष्ट महसूस होने लगी और मैं यह सोचने लगा कि हम किन उपायों से उनकी कविताओं का अनुपम संगीतात्मक, हार्दिक और गेय गुण रूसी पाठकों तक पहुंचा सकते हैं। उसी समय मैंने सबसे पहले मास्को लौटकर उनकी चुनी हुई कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित करने की एक योजना सोची थी। रेडियो-प्रसारण के एक दिन बाद हमारी फिर भेंट हुई। यह भेंट अशोक होटल में हुई जिसका जवाहरलाल नेहरू ने अभी धूमधाम से उद्घाटन किया था और जहां यूनेस्को सम्मेलन में हिस्सा लेने के लिए आए लोग ठहरे हुए थे। मेरे आग्रह पर पंत जी अपनी कई पुस्तकें और भारतीय समीक्षकों द्वारा उनकी रचनाओं पर किए गए अध्ययन मेरे लिए लाए। उस समय ऐसी रचनाओं की संख्या अधिक नहीं थी।

पंत जी से पहली बार मिलने से मुझे बहुत कुछ हासिल हुआ था। इससे मुझे उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा और उनके कला जगत के द्वार की कुंजी हाथ लग गयी थी जिससे मैं उनकी वैचारिक और कलात्मक दृष्टियों को अधिक अच्छी तरह समझने लगा और मैं उनकी कविताओं का रूसी अनुवाद करने के अधिक अच्छे साधन खोजने लगा।

हमने रूसी भाषा में पंत जी की कविताओं के संग्रह पर लगभग दो वर्ष और कार्य किया और यह मास्को के विदेशी साहित्य प्रकाशन गृह ने 1959 के शुरू में "सुमित्रानंदन पंत : चुनी हुई कविताएं" शीर्षक से प्रकाशित किया। अन्ना अख्मातोवा के अलावा रूसी के अन्य प्रसिद्ध कवि-अनुवादकों से भी इस प्रकाशन का काम कराया गया जिसमें वी० दरजेविन, ए० आर्गो, और तरुण कवि एस० सेवर्त्से, एम० कुदिनोव, और बाद में ई० विनो कुरोव, वी० रेविक, वी० सिकोर्स्की, और अन्य लोग भी थे।

उस वर्ष अप्रैल में मैं भारतीय शांति-योद्धाओं के सम्मेलन में हिस्सा लेने कलकत्ता गया। वहां से मैंने एक दिन के लिए इलाहाबाद जाने का समय निकाला — दोनों ओर की यात्रा विमान से की — क्योंकि मेरे लिए पंत, निराला और अन्य हिंदी कवियों से बातचीत करना जरूरी हो गया था। अपनी यह यात्रा मैं कभी नहीं भूल पाऊंगा। पंत जी मेरा स्वागत करने के लिए अन्य लेखकों के साथ हवाई अड्डे आए थे और उन्होंने मुझे अपने घर रहने का निमंत्रण दिया। मैं पहले ही बता चुका हूं कि पंत जी ने विवाह नहीं किया था और उनका परिवार नहीं था। वे एक छोटे से सुखदायक एवं सुंदर मकान में रहते थे

जो एक छायादार और प्रेम से लगाए गए बगीचे के बीच में था। स्पष्ट है कि उनका प्रकृति का प्रेम अनेक जीवन की अन्य बहुत-सी कमियों की पूर्ति कर देता था। मुझे याद है कि अपना बगीचा उन्होंने मुझे कितने गर्व से दिखाया - कुछ असाधारण पौधों और फूलों की ओर मेरा विशेष ध्यान खींचा जो उन्होंने अपने हाथ से लगाए थे। मैंने देखा कि अपने पड़ोसियों से वे इस बात में भिन्न थे कि वे अपने घरेलू सहायकों और माली, रसोइए आदि से बड़ी ही नम्रता और चतुराई से व्यवहार करते थे—-इन लोगों ने हमें स्वादिष्ट भोजन कराया। मैं निराला जी से मिलने जाने को बड़ा उत्सुक था जो उस समय बहुत बीमार थे, और जिनकी रचनाओं का मैं उस समय प्रकाशनार्थ एक संग्रह तैयार करने के लिए अध्ययन कर रहा था। पंत जी ने फौरन मेरा सुझाव मान लिया और हम एक और प्रसिद्ध हिंदी कवि रामकुमार वर्मा की कार में चले—वर्मा जी एक रहस्यवादी कवि हैं। वे पुराने शहर की संकरी, धूलभरी लेकिन गुलज़ार में से बड़ी सफाई से अपनी एंबेसेडर कार चलाते हुए गए। मैं पंत जी की बगल में बैठा था और उन्होंने रास्ते में एक शब्द भी नहीं बोला और अपनी नाक और मुंह एक महीन सुगंधित रुमाल से ढके रखा। निराला के बारे में 1978 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में अपनी इस भेंट का और निराला जी के साथ हुई दिलचस्प बातचीत का विस्तृत विवरण दिया है—निराला जी ने ही अपने परम मित्र पंत जी के साथ हिंदी कविता में नयी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति 'छायावाद' का सूत्रपात किया था। यहां मैं इतना ही कहूंगा कि उस दिलचस्प मिलन को चौथाई सदी से अधिक समय हो गया है पर उसकी मुझ पर ऐसी गहरी छाप पड़ी कि जैसे यह कल की ही बात हो। मुझे उनका कहा एक-एक शब्द याद है। लकड़ी के तख्त पर मैली-कुचैली तहमद बांधे सफ़ेद बालों वाले निराला जी के पास सुघड़ पोशाक में सुसज्जित पंत जी को बैठे हुए मैं आज भी साफ़-साफ़ देख सकता हूं। निराला जी पर प्रसिद्ध भारतीय लेखक रामविलास शर्मा द्वारा लिखी हुई पुस्तक का वह अंश मुझे आज भी याद है जिसमें उन्होंने इन दो व्यक्तियों से अपनी भेंट का ज़िक्र किया है—जो एक-दूसरे से इतने भिन्न प्रकार के थे पर अपनी युवावस्था में एक-दूसरे के साथ बड़े घनिष्ठ रहे थे। "निराला कपड़ों के बारे में लापरवाह थे—उनके लंबे-लंबे उलझे हुए बाल, एक सादी लुंगी पहने हुए, छाती पर कमीज़ के बटन खुले, पैरों में टूटी चप्पल या फिर नंगे पैर—और दूसरी ओर सुंदर भव्य वस्त्रों में सुसज्जित पंत जी···दोनों हमेशा साथ रहते थे···इलाहाबाद के लोगों ने उन्हें हमेशा इसी रूप में देखा था।" और मुझे फिर इन दोनों को एक साथ देखने का मौका मिला और प्रत्यक्ष यह जानने का अवसर हुआ कि पंत जी अपने पुराने मित्र के बारे में कितने उत्साह और प्रेम से बात करते हैं।

उस दिन शाम को हिंदी साहित्य के इस सबसे बड़े और सबसे पुराने केंद्र

इलाहाबाद के लेखकों ने एक सभा की जिसमें मेरा परिचय महादेवी वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रामकुमार वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर और अन्य कई प्रमुख हिंदी लेखकों से कराया गया। सभापति सुमित्रानंदन पंत थे। अपने आरंभिक भाषण में उन्होंने राष्ट्रों के बीच साहित्य के आदान-प्रदान और उनमें आपसी मित्रता और समझ-बूझ की भावना बढ़ाने को बड़ा महत्त्वपूर्ण बताया। मान्य अतिथि के नाते मुझे उनके पास बिठाया गया था। इस सभा में पंत जी की चुनी हुई कविताओं के रूसी अनुवाद की पहली पुस्तक का विमोचन किया गया।

अक्तूबर 1961 के अंतिम दिनों में पंत जी विदेशों के साथ सांस्कृतिक संबंध बनाने के लिए स्थापित मैत्री-समाज यूनियन के निमंत्रण पर मास्को गए और ऐस्टोरिया होटल में ठहरे। पंत जी का और मेरा अधिकतर समय इकट्ठे ही गुज़रा; हम व्लादिमिर इल्यिच लेनिन का मकबरा देखने गए, हमने क्रेमलिन का एक चक्कर काटा, बोल्शोई थियेटर में एक अभिनय देखा और 7 नवंबर को हम लाल चौक गए। सैनिक परेड और मास्को की मज़दूर जनता द्वारा प्रस्तुत रंगारंग प्रदर्शन देखकर उन्हें जो उत्साह और सुख अनुभव हुआ, वह मैं कभी भूल नहीं सकता। उन्हें सोवियत जीवन को प्रत्यक्ष देखने का बड़ा आग्रह था और उस नयी दुनिया से कुछ और सीखने की इच्छा थी जिसमें समानता और न्याय का बोलबाला है—उन्होंने अपनी रोमानी कविताओं में इसी तरह के समाज का तो सपना देखा था। मेरा सौभाग्य था कि मैंने 'जनता का राज' कविता को जन्म लेते देखा जो हमारे देश के बारे में, लेनिन के बारे में, अक्तूबर क्रांति के बारे में, और सोवियत जनता के बारे में थी। 1930 में अपनी सोवियत संघ की यात्रा के समय रवींद्रनाथ ठाकुर ने जो कुछ अनुभव किया था और देखा था, उस सबका वर्णन उन्होंने अपने संस्मरणात्मक पत्र श्रृंखला 'रूस की चिट्ठी' में बाद में लिख डाला था। और अब तीस वर्ष बाद उनके शिष्य और अनुयायी सुमित्रानंदन पंत ने बिल्कुल वैसे ही अपनी कविता 'जनता का राज' में राज प्रकट किए थे।

आठ नवंबर 1961 को पंत जी मेरे घर आए और मेरे परिवार के लोगों से मिले। मेरी माता जी क्लेवदिया मिखाइलोना से, जो उच्च शिक्षित, बड़ी स्नेहमयी, अनुभवी और ऊंचे नैतिक सिद्धांतों वाली महिला थीं (अब उनका देहांत हो चुका है) से हुई बातचीत से वे विशेष प्रभावित हुए। मैंने उनके बीच दुभाषिए का काम किया। बाद में पंत जी ने मुझसे कहा : "संसार के बारे में और जीवन में मनुष्य की भूमिका और कर्तव्य-कर्म के बारे में मेरे विचार इन विषयों पर इस सम्मान्य वृद्ध महिला के विचारों के बहुत निकट हैं। मैंने अनुभव किया कि दिल से वे एक धार्मिक व्यक्ति हैं, हालांकि उसके कमरे में कोई-ईकोन (देवता की मूर्ति) नहीं है। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं गिरजाघर कभी नहीं जाती। आपने

स्वयं देखा है कि मेरे घर में हिंदू देवता की कोई मूर्ति भी नहीं है और आप यह भी जानते हैं कि मैं मंदिर विरले ही जाता हूं। आपकी माता जी की तरह मैं भी मूर्तियों के बजाय मानव जाति की पूजा और सेवा करना अच्छा समझता हूं।" जिन मित्रों को हमने उस दिन निमंत्रित किया था "वे पंत जी की विद्वत्ता से और साहित्य, दर्शन और इतिहास के साथ-साथ प्राकृतिक विज्ञानों की भी उनकी जानकारी से बड़े प्रभावित हुए। फलित ज्योतिष विज्ञान में भी उनकी दिलचस्पी का और जन्मकुंडली बनाने में उनकी कुशलता का जो उन्होंने हमारे सामने फौरन कुंडली बनाकर दिखायी, हम लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मेरी राय में, वे इस क्षेत्र में बड़े विशेषज्ञ थे। उन दिनों जब मैं अधिकतर समय पंत जी के साथ रहा, मैं उनकी चतुराई और कोमल व्यवहार की प्रशंसा करते नहीं थकता था, पर साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया कि उनके मार्मिक महत्त्व के हितों को चुनौती दी जा रही हो तो वे कितने सख्त और अटल हो जाते थे। उन्होंने भारत में धार्मिक और सांप्रदायिक वैमनस्य पैदा करने वाले पुराणपंथी विचारों के हर रूप पर रोषभरी प्रतिक्रिया की। भारत की भाषा स्थिति के बारे में वे जोश से बोले और भारत में हिंदी और भारत की अन्य राष्ट्रीय भाषाओं के विकास के लिए भारत में कारगर उपाय न किए जाने पर दुःख प्रकट किया। "मैं जानता हूं कि भारत की आत्मा तब तक नहीं जागेगी जब तक राष्ट्रीय भाषाओं का विकास नहीं होगा। अंग्रेज़ी को राजभाषा बनाए रखकर हम स्थायी आत्मिक गुलामी के शिकार हो रहे हैं।" मुझे पता चला कि पंत जी ने बाद में भारत में अपने इन विचारों का दृढ़ता से खुलकर समर्थन किया। एक दिन शाम को पंत जी और मैं दिल्ली जा रहे विमान पर सवार हुए—मुझे और एक अन्य लेखक व्सेवोलोद आइवानोव को रवींद्रनाथ ठाकुर शताब्दी समारोह में हिस्सा लेना था। हम पंत जी के साथ ही बैठे थे और हम लोग तब तक बातचीत करते रहे जब तक रोशनी मद्धिम न कर दी गयी और हम तंद्रा के अधीन न हो गए। एकाएक पंत जी की उत्तेजित आवाज़ से मैं चौंका: "खिड़की से बाहर देखो, फौरन हम हिमालय के ऊपर उड़ रहे हैं।" आकाश बिल्कुल साफ था। उगते सूर्य की चमकीली किरणों से पर्वतों पर सोना बिखर रहा था। यह कल्पनातीत सुंदर दृश्य था। "आखिरकार मुझे ये हिमालय शिखर आकाश से देखने का मौका मिल ही गया" पंत जी ने उत्तेजित स्वर में कहा। "दिल्ली से मास्को जाते हुए मेरा विमान यहां से रात में गुजरा था।" मैंने यह अनुभव किया कि पंत जी को हिमालय के भूगोल की उतनी ही अच्छी जानकारी है जितनी अपने निवास-नगर इलाहाबाद की गलियों की होगी क्योंकि वे आकाश से स्पष्ट दीख रहे शिखरों, श्रेणियों, हिमनदों और झीलों को आसानी से पहचान लेते थे और उनके नाम बताते जाते थे। उनमें असाधारण उल्लास दिखाई दे रहा था। बहुत बाद

में ही जब मैंने उनकी कविता 'जनता का राज' पढ़ी, मैं यह ठीक-ठीक समझ सका कि वह क्षण उनके लिए कितना महत्त्वपूर्ण रहा था। प्रतीत होता है कि उस समय उनके मन में उस कविता की रूपरेखा पहले ही वन चुकी थी और कमी केवल ऊपर से हिमालय देखने के अनुभव की थी। उनकी कविता का प्रधान पात्र भी मास्को से लौट रहा है, कवि की आंखों से हिमालय को देखता है और इसके सौंदर्य तथा भव्यता का वर्णन करता है।

उसी दिन व्सेवोलोद और मैं एक प्रमुख हिंदी कवि और पंत जी के अच्छे मित्र हरिवंशराय वच्चन के अतिथि बने। इस अवसर पर प्रमुख भारतीय लेखक भी उपस्थित थे। खूब गप-शप और हंसी-मखौल रहा। मुख्य आकर्षण केंद्र पंत जी थे जो अभी मास्को से लौटे थे। सब लोग उनके रूस-दर्शन के अनुभव सुनना चाहते थे। वच्चन जी ने उनसे पूछा : "सोवियत संघ में आप पर किसका प्रभाव सबसे अधिक पड़ा ?" "मेरे लिए रूस-यात्रा एक तीर्थयात्रा थी," पंत जी ने उत्तर दिया। "मैंने मास्को में जो कुछ देखा उसी से मुझे आनंद और विस्मय हुआ। लेकिन मुझपर सबसे अधिक प्रभाव सोवियत जनता का पड़ा। उनसे मिलने और वातचीत करने से मुझे यह वात समझने में आसानी हुई कि पृथ्वी पर आदर्श या दोषहीन मानव पैदा करने के लिए हमें किस दिशा में जाना चाहिए।" पंत जी की बातें सुनते हुए मैं उनकी सूक्ष्म प्रेक्षण क्षमता, जीवन की विभिन्न घटनाओं को तुरंत समझ लेने और उनका मूल्यांकन कर सकने की उनकी योग्यता, हर नयी चीज़ के वारे में उनकी तीव्र सचेतनता, उनकी कुशाग्रता, उनके मन की लोचशीलता और स्वच्छता, और सबसे वढ़ कर, उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति से मैं विस्मित रह गया। पंत जी के कुछ मित्र बताते हैं कि उनके चरित्र का इनमें से कोई भी गुण और विशेषता, या उनका अपना व्यण्टित्व, जिन सबके कारण ही मेरी राय में वे इतने मोहक व्यक्ति थे, जीवन के अंतिम क्षण तक मैं उनसे अलग नहीं हुआ था। "पंत जी पर बुढ़ापा हावी नहीं हो पाया है, वे ही इसके ऊपर छाये हुए हैं।" एक प्रमुख भारतीय लेखक अमृतराय ने 1969 में पंत जी के 70वें जन्मदिन पर लिखा था। 70 वर्ष की आयु में भी उनका मन उतना ही ग्रहणशील है जितना यह उनकी युवावस्था में था। इस दृष्टि से वे एक दुर्लभ अपवाद हैं कि वे हर नयी चीज़ तुरंत समझ और आत्मसात् कर लेते हैं।" (धर्मयुग, वम्बई, 7 दिसंबर, 1969)

मैंने अंतिम वार पंत जी से 1964 के अंत में दिल्ली में भेंट की जब मैं भारत-सोवियत सांस्कृतिक समाज की वैठक के लिए आया था और पंत जी अपनी नयी पुस्तक के प्रकाशन के सिलसिले में उन्हीं दिनों इलाहाबाद से दिल्ली आये हुए थे। हम लोग लेखकों के एक विशाल और जरा शोर भरे सम्मेलन में जैसे-तैसे कुछ वार्तालाप कर पाये। हमेशा की तरह, उनसे उनके कार्य के विषय में पूछने के

लिए बहुत से नये सवाल थे। उन दिनों मैं अपना डाक्टरेट का शोध-पत्र समाप्त ही करने वाला था—इसके बहुत बड़े हिस्से में पंत की कविता का ही विश्लेषण था और कुछ बातें स्पष्ट करनी थीं और कुछ इसमें जोड़नी थीं। इसके अलावा, मैं पंत जी की कविताओं का एक और संग्रह भी प्रकाशन के लिए तैयार कर रहा था —यह मेरी लिखी हुई परिचयात्मक भूमिका और रोरिक के चित्रों की रंगीन प्रतिकृतियों के साथ प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को ने 1965 में "सुमित्रानंदन पंत : ए हिमालयन नोटवुक" नाम से प्रकाशित किया है। उनकी कविता के साथ रोरिग के चित्रों को जोड़ देने का विचार उन्हें बड़ा पसंद आया। "मुझे रोरिग के चित्र बड़े अच्छे लगते हैं।" पंत जी ने कहा, "मुझे याद है, 1947 में रोरिग की मृत्यु के कुछ ही समय बाद दिल्ली में आयोजित रोरिग प्रदर्शनी के उद्घाटन के अवसर पर जवाहरलाल नेहरू ने उनके चित्रों की कितनी प्रशंसा की थी।

पंत जी के साथ मैं राजकमल प्रकाशन गया जिन्होंने पंत जी की बहुत-सी पुस्तकें और पंत जी पर भारतीय लेखकों द्वारा लिखी गयी अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। पंत जी ने मेरे काम के लिए अपेक्षित पुस्तकें चुनने में मेरी मदद की। प्रकाशकों ने आग्रह किया कि मैं पंत जी पर उनके लिए भी एक पुस्तक लिखूं। उस समय तक पंत जी पर मेरे कुछ लेख सोवियत संघ और भारत में प्रकाशित हो चुके थे। मैंने प्रकाशकों का आग्रह खुशी से स्वीकार कर लिया क्योंकि मैं इस अद्भुत कवि के बारे में अपने विचार प्रकट करने के लिए और उनके व्यक्तित्व तथा कृतियों के अध्ययन में अपना योगदान करने के लिए सदा उत्सुक रहा था।

यह पुस्तक तैयार करते हुए मैंने कई बार भारत की यात्रा की पर मैं पंत जी से दिल्ली में या और जहां मैं अपने काम से गया, नहीं मिल पाया और न इलाहाबाद की यात्रा का संयोग वन पाया। 1968 में मैंने पंत जी को एक लम्वी चिट्ठी लिखी जिसमें उनसे अनेक जिज्ञासाएं की गयी थीं पर उसका कोई उत्तर नहीं आया। एक भारतीय विद्वान और मेरे मित्र डा० नामवरसिंह ने जिन्होंने मेरी एक पुस्तक का संपादन भी किया है, मुझे पंत जी के गिरते हुए स्वास्थ्य के बारे में बताया। यह जानकर मुझे अफ़सोस हुआ कि मैंने अपने पत्र से उन्हें व्यर्थ ही परेशान किया। फिर मुझे इस वात से वड़ी खुशी हुई कि 1968 के अंत में मेरे पास पंत जी का एक स्नेहपूर्ण मैत्री भरा पत्र आया जिसमें मेरी सव जिज्ञासाओं का समाधान हो गया और मुझे अपनी उस पुस्तक का काम पूरा करने में वड़ी मदद मिली जो हिंदी में "सुमित्रानंदन पंत : आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और नवीनता" शीर्षक से 1970 के उत्तरार्ध में छपी। इस पुस्तक में एक फोटो छपी है जिसमें मैं पंत जी के साथ हूं और जो मास्को के फ्रैंडशिप हाउस में खींची गयी थी। भारत में उस पुस्तक के जो रिव्यू छपे और पंत तथा आधुनिक साहित्य पर लिखने

वाले कई भारतीय लेखकों की पुस्तकों में इसकी जो चर्चा हुई उससे मुझे यह संतोष होता है कि मेरी पुस्तक भारतीय पाठकों के लिए उपयोगी और दिलचस्प सिद्ध हुई है और विशेष रूप से पंत तथा आधुनिक हिंदी साहित्य में लगे अन्य अध्ययन-कर्त्ताओं के लिए लाभकारक समझी गयी है।

जनवरी 1978 के शुरू में सुमित्रानंदन पंत का देहांत हो गया। मास्को-स्थित भारतीय दूतावास में एक शोकसभा हुई जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन मास्को स्थित भारतीय राजदूत इंद्रकुमार गुजराल ने की थी। इस गंभीर अवसर पर भारतीय संस्कृति के अध्ययनकर्त्ताओं ने इस बात का उल्लेख किया कि हिंदी साहित्य और सारे भारतीय साहित्य के विकास में इस उत्कृष्ट कवि का बड़ा भारी योगदान था। मैंने अपने भाषण में पंत जी को उन भारतीय लेखकों में बताया जिन्होंने हमारे दोनों देशों के बीच मित्रता और समझ-बूझ बढ़ाने के लिए अपने जीवन और कृतियों से बड़ा काम किया। मैंने उनकी कविता के लोकतंत्रीय स्वर की भी चर्चा की। भारत में एक संभ्रांत परिवार में जन्म लेकर पंत जी ने सारे जीवन अपने देशवासियों की निष्ठापूर्वक सेवा की, एक आदर्श मनुष्य का सृजन करने का यत्न किया। स्वाधीन भारत के इस योग्य निर्माता ने अपने सम-कालीन अन्य भारतीय लेखकों से यह अनुरोध किया कि वे जनसाधारण के सुख और धरती की विभिन्न जातियों के बीच मित्रता और समझ-बूझ बढ़ाने के काम में अपनी कृतियां समर्पित करें। इस प्रसंग में मैंने उन बातों की भी चर्चा की जो पंत जी ने 1957 के दिसम्बर में इलाहाबाद में हुए द्वितीय हिंदी लेखक सम्मेलन में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में कही थीं। मनुष्य को यथार्थ जीवन की मार्मिक सम-स्याओं से विमुख करने वाला साहित्य लिखने वाले लेखकों की आलोचना करते हुए और केवल मनुष्य के अंतर्जगत् पर ध्यान केंद्रित करने वाला साहित्य लिखने वाले या यथार्थ को विकृत करके इसे सर्वथा निराशाजनक रूप में पेश करने वाले लेखकों की भर्त्सना करते हुए पंत जी ने लेखकों से आग्रह किया था कि वे समाज के हितों का सदा ध्यान रखें। "कोई भी समाज से विच्छिन्न होकर नहीं जी सकता," पंत जी ने कहा था—"चिड़िया को अपना घोंसला बनाने के लिए डाल की जरूरत होती है, इसी प्रकार लेखक को भी सहारे के लिए किसी डाल की ज़रूरत होती है। उसके लिए वह डाल जनता का समर्थन है।"

यह बड़े संतोष की बात है कि कई समकालीन भारतीय कवि पंत जी की, जो एक उत्कृष्ट कवि, महान् मानवता-प्रेमी और भारत के सचमुच के राष्ट्रीय कवि थे, परंपराएं आगे बढ़ा रहे हैं और उन पर नवनिर्माण कर रहे हैं।

रामधारीसिंह दिनकर : कविता और उनका व्यक्तित्व

जब मैं रामधारीसिंह दिनकर के बारे में सोचता हूं, तब उनके साथ पहली मुलाकात का स्मरण हो आता है। मुझे याद आती है, सन 1955 के वसंत में, दिल्ली के रामलीला मैदान में आयोजित, लगभग एक लाख लोगों की विशाल जनसभा, जो प्रथम सोवियत प्रतिनिधिमंडल की भारत-यात्रा के उपलक्ष्य में हुई थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू सोवियत और भारतीय झंडों से सुसज्जित मंच पर खड़े थे और उनके पास ही खड़े थे, दीर्घकाय प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले दिनकर-जी, अपनी दूध-सी सफेद भूषा में। "लाल कमल तुझे नमस्कार है !" अपनी सशक्त वाणी में उन्होंने अपनी कविता आरंभ की और पूरा मैदान गूंज उठा था— **"सोवियत संघ और भारत एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में संबद्ध हैं इनकी नियति भिन्न है, लेकिन इनके सपने एक-जैसे हैं !"** कुछ यही भाव था, उनकी कविता का। सभा के बाद मैं उनसे मिला और हमने देर तक, भारतीय और सोवियत-साहित्य के विषय में चर्चा की। दिनकरजी ने अपने कई कविता-संग्रह मुझे भेंट किए। बाद में मैंने उनकी कुछ कविताओं को भारतीय कवियों की रचनाओं के उस प्रथम संकलन में सम्मिलित किया, जो 1956 में मास्को से **खुदोजेस्तवेन्नाया लितेरातूरा'** नामक राजकीय प्रकाशन गृह में प्रकाशित हुआ था।

दिनकरजी के साथ, मेरा दो-दशक का हार्दिक मैत्रीपूर्ण संबंध रहा तथा मैं इसके लिए उनका आभारी हूं कि उन्होंने भारत को और भी अच्छी तरह से समझने तथा भारत की सांस्कृतिक संपदा को, अधिक गहराई से जानने में मेरी बड़ी सहायता की। मेरे पास समय-समय से, उनसे प्राप्त हुए अनेक पत्र और उनके हस्ताक्षर से युक्त उनकी अनेक पुस्तकें, आज भी सुरक्षित हैं।

मुझे गर्व है कि अपने देश में मैं सर्वप्रथम रहा हूं, जिसने छठे दशक के मध्य में दिनकर की रचनाओं का अध्ययन शुरू किया तथा उनके और उनके काव्य के बारे में लिखना भी शुरू किया। सन 1961 में सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान ने, एक स्नातक एस० त्रुब्निकोवा को दिनकर की रचनाओं

के गंभीर अध्ययन के लिए भारत भेजा। सन 1964 में उन्होंने अपना शोधप्रबंध प्रस्तुत किया, जिसका शीर्षक था—'आधुनिक हिंदी काव्य के विकास में दिनकर का योगदान। इस ग्रंथ के कुछ अध्याय, पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्यिक संकलनों में भी प्रकाशित हुए। उसी समय से हमारे देश में दिनकर की कविताओं का प्रसार शुरू हुआ। उनकी कुछ कविताएं पत्रिकाओं में तथा काव्य-संकलनों में भी प्रकाशित हुईं। 1965 में मास्को के प्रगति प्रकाशन गृह से दिनकर की कविताओं का एक संकलन 'नील कमल' के नाम से प्रकाशित हुआ।

दिनकर हमें क्यों आकर्षित करते हैं ? उनका काव्य पुराना क्यों नहीं पड़ता और कैसे वह काल की परीक्षा में सही उतर रहा है ?

दिनकर के कृतित्व का अध्ययन करने वाले अनेक भारतीय विद्वानों ने इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत किया। हम सोवियत अध्येता और विद्वान, जो सोवियत संघ में दिनकर की साहित्यिक विरासत के अध्ययन में और उसे लोकप्रिय बनाने में व्यस्त हैं, हम भी इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रयत्नशील हैं।

दिनकर सच्चे राष्ट्रीय कवि थे। उनके कृतित्व का लोकस्वरूप इस तथ्य से उजागर है, कि उसमें भारतीय जनगण के स्वप्न और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति मिली है, हर प्रकार के उत्पीड़न के विरुद्ध—औपनिवेशिक, सामंती, पूंजीवादी और साम्राज्यवादी उत्पीड़न के विरुद्ध उसके संघर्ष को अभिव्यक्ति मिली है।

उनका काव्य अपनी समसामयिक चेतना की दृष्टि से, अपने आस-पास घटित होनेवाली वस्तुस्थिति के प्रति सचेतनता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने आपको कभी भी अपनी आंतरिक भावनाओं के बंधन में नहीं बंधने दिया। मनुष्य के प्रति, उसके भविष्य के प्रति सतत् चिंताशील इस कवि ने हमेशा अपने जनगण के प्रति, समस्त मानवजाति के प्रति अपने आपको संपूर्णता के साथ समर्पित किया।

दिनकर की रचनाओं का लोकस्वरूप इस तथ्य से भी स्पष्ट है, कि वे हमेशा अपने देशवासियों के समीप रहे तथा अपने देश में सामाजिक और राजनीतिक जीवन के केंद्र में संघर्षरत रहे। वे एक बड़े प्रभावशाली वक्ता थे तथा अपनी कविताओं का भी बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से पाठ करते थे। मैं उस आनंद और उत्साह को कभी नहीं भूल सकूंगा, जो उनकी रचनाओं को सुनते समय, भारतीय-जनों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था।

वे एक समर्पित देशभक्त थे तथा उन्होंने अपनी समस्त शक्ति और योग्यता का सर्वश्रेष्ठ, हमेशा अपने देश और अपनी जनता की सेवा में लगाया। उन्हें भारत की सांस्कृतिक परंपरा पर बड़ा गर्व था तथा वे सामाजिक प्रगति में ध्येय को आगे बढ़ाने के लिए, अपने संघर्ष के निमित्त उसी से शक्ति ग्रहण करते थे। उनकी रचनाएं अपने स्वरूप और विषय की दृष्टि से अत्यंत राष्ट्रीय हैं। इसमें संदेह नहीं

कि उन्होंने महान राष्ट्रीय हिंदी साहित्य के निर्माण और विकास में बड़ा महत्त्व-पूर्ण योगदान किया।

शब्दों के समुचित प्रयोग उपमाओं भी विविधता, भाषा की चित्रात्मकता, अनायास अभिव्यक्ति और प्रभावपूर्ण शब्द-योजना तथा अभिव्यक्ति की मौलिकता आदि ऐसी उल्लेखनीय विशेषताएं हैं, जो दिनकर के काव्य की, असाधारण लोक-प्रियता का मुख्य कारण है।

हिंदी की क्लासिकी परंपरा से, अविभाज्य रूप में संबद्ध होते हुए भी दिनकर ने अपने आपको, केवल अपनी भाषा की काव्य-परंपरा तक ही सीमित नहीं रखा। वे अखिल भारतीय स्तर के कवि थे और उन्होंने भारत के बहुभाषीय साहित्य के रचनात्मक अनुभव से अपने आपको संबद्ध रखा तथा उसकी सर्वोत्तम उपलब्धियों से प्रेरणा ग्रहण की। रवींद्रनाथ टैगोर का आदर्श-मानवतावाद, दिनकर को बहुत प्रिय था और यह उन्हें अपनी निजी मान्यताओं के अनुरूप प्रतीत होता था। दिनकर का मानवतावाद अमृत्व के अनुरूप प्रतीत होता था। दिनकर के काव्य का गहन मानवतावाद और मानव के अमरत्व में उनका दृढ़ विश्वास टैगोर के 'जीवन देवता' की अवधारणा के बहुत कुछ समान था। मुझे 1961 में टैगोर शताब्दी के अवसर पर साहित्य अकादमी में आयोजित एक अंतर्राष्ट्रीय परिसंवाद में दिया गया, उनका ओजस्वी भाषण स्मरण है, जिसमें उन्होंने टैगोर को अपना काव्यगुरु बताया था।

टैगोर और इकबाल की भांति ही दिनकर ने कभी भी संकीर्ण राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं किया। उनकी रचनाओं की राष्ट्रीयता हमेशा अविभाज्य रूप से अंतर्राष्ट्रीयता से जुड़ी रही। उन्होंने देश और देशवासियों के प्रति प्रेम को, पृथ्वी के समस्त मानवों के प्रति गहरे प्रेम के साथ जोड़ लिया था। संसार में कहीं भी और किसी भी रूप में हिंसा और आक्रमण के प्रकट होने पर, वे चुप नहीं बैठ सकते थे।

अपने काव्यों में उन्होंने जो नवीन रूप प्रस्तुत किए हैं, उनके पीछे काव्य-स्वरूप, भाषा और हिंदी-काव्य शैली के नये विचारों, नयी भावनाओं और मन-स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए कवि के रूप में उनके संघर्ष की ही प्रतिछाया अंकित है। उन्होंने नये कार्यरूपों, छंदों और शैलियों की रचना की है।

अपनी आरंभिक रचनाओं में ही, कवि दिनकर ने क्रांति की देवी—'क्रांति-कुमारी'—से प्रार्थना की थी कि उनमें एक ऐसी क्रांतिकारी अग्नि प्रज्वलित कर दे, जिसमें निर्धनों और अंकिचनों का सारा दुःख और कष्ट जलकर भस्म हो जाए। 'हिमालय' शीर्षक अपनी एक कविता में, जो मेरी दृष्टि में दिनकर की एक सर्वोत्तम रचना है, कवि अपनी मातृभूमि से पूछता है कि उसका वह प्राचीन गौरव कहां गया, उसकी संतानों के अमर कार्यों को आज क्यों भुला दिया गया है। भारतीय

जनता की आत्मिक शक्ति की महानता तथा स्वतंत्रता और स्वाधीनता के संघर्ष के लिए, उसके अदम्य आत्मबल के प्रतीक हिमालय को संबोधित करते हुए कवि इस प्राचीन पर्वत का सदियों की निद्रा त्याग कर जागृत होने के लिए आह्वान करता है। कवि पूर्व में उन प्रथम किरणों का दर्शन करता है जो संसार के इस सबसे ऊंचे पर्वतराज को जगा रही हैं।

दिनकर का नाम सोवियत—जनगण को इसीलिए विशेष प्रिय है, क्योंकि उन्होंने सोवियत-भारत मैत्री के स्थायित्व की घोषणा की है। वे बहुत पहले औपनिवेशिक पराधीनता के वर्षों में ही, लेनिन की उस छवि की ओर उन्मुख हुए थे जो सोवियत — जनगण को इतनी प्रिय है। उन्होंने लिखा था कि लेनिन का हृदय उस पवित्र ज्वाला से दैदीप्यमान है, जिसने समस्त संसार में क्रांति की ज्योति प्रज्वलित की है। हम दिनकर की प्रसिद्ध कविता 'मास्को और दिल्ली' से भी बखूबी परिचित हैं, जो 1945 में लिखी गयी थी। मेरे विचार में समस्त हिंदी-काव्य जगत में, यह कविता अपनी ओजस्विता के लिए उल्लेखनीय है तथा इसमें अक्तूबर क्रांति के विचारों की महानता को, बड़े सशक्त ढंग से, अभिव्यक्त किया गया है, और नाजीवाद पर सोवियत जनगण की विजय के विश्व महत्त्व को रेखांकित किया गया है। दिनकर ने संसार में सोवियतों के प्रथम देश की राजधानी को 'उगते हुए सूरज के देश की राजधानी' कहा है।

मेरे विचार में आम जनगण की महान शक्ति की आह्लादमय अनुभूति में, उनके गौरव के प्रति हार्दिक प्रशंसा-भाव में ही दिनकर और मायाकोव्स्की की समानता, उजागर होती हुई नजर आती है। मायकोव्स्की की कविता की भांति ही, दिनकर की कविता में भी क्रांतिकारी उद्‌घोष की प्रतिध्वनि और क्रांतिकारी अभियान का लयबद्ध प्रयाण सुनायी देता है। दिनकर की रचनाएं, हमें मायकोव्स्की द्वारा प्रयुक्त उपमाओं की याद दिला देती है।

सन 1961 में साहित्य अकादमी के प्रतिनिधिमंडल के नेता के रूप में जब दिनकरजी ने मास्को की यात्रा की थी, तब हमने विस्तार के साथ मायाकोव्स्की के बारे में चर्चा की थी। तब मुझसे दिनकरजी ने कहा था, "मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं हिंदी में मायकोव्स्की का अनुवाद करूं। उनकी कविताओं के हिंदी और अंगरेजी में जो अनुवाद उपलब्ध हैं, उनसे मैं संतुष्ट नहीं हूं। मायकोव्स्की भावना के धरातल पर, मेरे बहुत समीप हैं, और मेरा विचार है कि हिंदी भाषा के माध्यम से मायकोव्स्की के काव्य को शाब्दिक रूप में ही नहीं, बल्कि उनकी क्रांतिकारी भावना को भी ठीक-ठीक अभिव्यक्त कर सकूंगा।" लेकिन जहां तक मुझे पता है दिनकर की यह इच्छा पूरी नहीं हुई।

अपने इस छोटे-से निबंध को मैं उनके इन शब्दों के साथ समाप्त करना चाहता हूं जो उन्होंने अपने काव्यग्रंथ 'नील कमल' के रूसी अनुवाद के प्रकाशन के

समय सोवियत पाठकों को संबोधित करते हुए लिखे थे—"1961 के शरद में अपनी सोवियत यात्रा के दौरान मास्को, लेनिनग्राद, येरेवान और ताशकंत के कवियों और लेखकों ने जिस स्नेह और मैत्रीभाव के साथ हमारा स्वागत किया था उसका स्मरण मुझे बहुत ही सुखद लगता है। सोवियत जनगण के प्रति और सोवियत साहित्यकारों के प्रति, मेरे हृदय में बड़ी गहरी श्रद्धा है। भारत और सोवियत संघ की मैत्री, सदा अमर रहे!"

अली सरदार जाफ़री—भारत के मायकोवस्की

अली सरदार जाफ़री से मेरी पहली भेंट मार्च 1955 में दिल्ली में अंतर्राष्ट्रीय तनावों में कमी करने के उपायों पर विचार करने के लिए हो रहे एशियाई देशों के एक सम्मेलन में हुई थी। मैं अनेक सदस्यों वाले एक सोवियत प्रतिनिधि-मंडल का सदस्य था और अपनी पहली भारत यात्रा मुझे बड़ी अच्छी लग रही थी। प्रथम प्रभाव सदा सबसे अधिक चिरस्थायी होते हैं। सोवियत और भारतीय लेखकों के बीच एक भेंट हुई जो सम्मेलन के चलते हुए ही हुई थी और उसकी एक-एक बात मुझे याद है। इनमें से बहुत से अब परलोक सिधार चुके। मैं वहां निकोलाई तिखोनोव, अलेग्ज़ेंडर कोर्नेइचुक मिर्ज़ो तुर्सुन-ज़ेद, वांदा वासिलेव्स्का और अनातोली सोफ्रोनोव के साथ था। अली सरदार जाफ़री उन भारतीय लेखकों में थे जिनसे हमारी भेंट हुई और हमें बातचीत करने का मौका मिला। वे मास्को में 1954 में हुए द्वितीय सोवियत लेखक सम्मेलन में भाग लेने के वास्ते सोवियत संघ की यात्रा कर चुके थे। इसी कारण उन्होंने हमारे साथ पुराने मित्रों जैसा व्यवहार किया। मास्को लौटने पर निकोलोई तिखोनोव और मिर्ज़ो तुर्सुन-ज़ेद ने उस कांग्रेस में दिए गए उनके शानदार भाषण का विवरण बताया। मेरे लिए जाफ़री से मिलना और बातचीत करना खासतौर से महत्त्वपूर्ण और आवश्यक था, क्योंकि उस समय मैं हिंदी और उर्दू में लिखने वाले आधुनिक भारतीय लेखकों की चुनी हुई कविताओं का सर्वप्रथम सोवियत संग्रह तैयार कर रहा था और उनकी अपनी कृतियों को अच्छा स्थान देना चाहता था। परंतु सम्मेलन की अति-व्यस्तता के कारण मैं अपना इरादा पूरा न कर सका, और मैं उनके साथ चलते-चलते दो-चार शब्दों में ही बातचीत कर सका, हालांकि परंपरागत मुशायरे में उनकी शायरी सुनकर बड़ा आनंद आया।

जब हम जाफ़री की कविताओं का रूसी भाषा में अनुवाद करने लगे तब उनका मास्को में न होना हमें कितना खटका! कई सवाल उठते थे जो हम उनसे पूछना चाहते थे और कितनी ही बातें हमें स्पष्ट नहीं हो पाती थीं। हम उनकी सलाह चाहते थे। आखिरकार भारतीय कविता का रूसी भाषा तथा सोवियत

जातियों की भाषाओं में अनुवाद करने का काम अभी शुरू ही हुआ था और हम प्रयोग कर रहे थे और इसे अपने पाठकों के सामने अच्छे से अच्छे रूप में पेश करने के तरीके और साधन तलाश कर रहे थे।

भारतीय लेखकों की कविताएं— हिंदी और उर्दू से अनूदित नामक संग्रह मास्को के खुदोजेस्तवेन्नाया लितरेतुरा प्रकाशकों ने 1956 में प्रकाशित किया। इस भारी भरकम-सी किताब में अली सरदार जाफ़री की 21 कविताएं दी गई हैं जिनमें 'एशिया जाग रहा है', 'श्रमजीवी हाथों को सलाम' और 'नए संसार का अभिनंदन' जैसी प्रसिद्ध रचनाएं भी शामिल हैं। उनकी कविताओं के रूसी भाषा में शाब्दिक अनुवाद वी० बाइकोवा और एन ग्लेबोव ने किए थे और जिन लोगों ने उन्हें रूसी पद्य का रूप देने में मदद की उनमें पुरानी पीढ़ी के ऐसे प्रमुख कवि भी थे जैसे ए० अदालिस और ए० आर्गो और दो तरुण कवि, एस० सेवर्त्सेव और एन० बैनिकोव भी थे। इस पुस्तक ने सोवियत पाठकों को अनेक प्रमुख नये भारतीय कवियों के नामों से परिचित कराया जिनमें अली सरदार जाफ़री सर्वोत्तम कवियों में थे। यह सोवियत संघ में उनकी रचनाओं का अनुवाद और प्रसार करने के विशाल प्रयत्न का आरंभ था।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस देश में जाफ़री एक सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध भारतीय कवि हो गए हैं। उनकी कविताओं का अनुवाद सोवियत संघ की अनेक जातियों की भाषाओं में हुआ है। वे स्वतंत्र संग्रहों में साहित्यिक पत्रों और पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

दिल्ली में सरदार अली जाफ़री के साथ मेरी अविस्मरणीय मुलाकात को लगभग तीन दशक हो चुके हैं। यह कोई छोटी अवधि नहीं है। इन वर्षों में हमारी अनेक बार मुलाकतें हुई हैं। हम गहरी मित्रता के बंधन से बंधे हुए हैं जिसे मैं बड़ी कीमती समझता हूं। जो चीज़ मुझे विशेष अच्छी तरह याद है, वह कृश्नचन्दर के यहां बंबई में 1968 की शरद ऋतु में हुई एक मुलाकात है। कृश्नचन्दर के यहां जन्मदिवस की कोई पार्टी थी। वह नफ़ीस लेखक अनेक अतिथियों का सत्कार कर रहा था। उसने हमें जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार पाने वाली प्रथम सोवियत सांस्कृतिक टोली के रूप में निमंत्रित किया था। हम इस अवसर पर भारत का दौरा कर रहे थे। पार्टी बड़ी मज़ेदार रही और मौजमस्ती के साथ कविता पाठ भी हुआ।

इस अनायोजित मुशायरे से जाफ़री और तुर्सुन-ज़ेद के कवितापाठ मुझे खास अच्छी तरह याद हैं। भारतीय कवि और उनके सोवियत ताजिक मित्र विना अनुवाद के एक-दूसरे की बात समझते थे। "अगर आप नवाव (मध्यकालीन दरवार में मुख्य न्यायाधीश) होते और आपको यह फैसला करना होता कि दोनों कवियों में से कौन मुकावले में वढ़कर रहा तो आप किसका नाम लेते ?" मैंने

कृश्नचन्दर से पूछा। "मैं कहता कि विजय भारत-सोवियत मैत्री की हुई," उसने हंसते हुए कहा। "और जहां तक पुरस्कारों का सवाल है, उन दोनों को ऊंचे दर्जे के जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार मिले हैं—जाफ़री को 1965 में और तुर्सुन-ज़ेद को 1967 में।"

अली जाफ़री का सबसे अच्छा वर्ष 1977 का रहा दीखता है जब उन्होंने जयंती समिति के प्रधान सचिव के रूप में दिल्ली में मुम्महद इकबाल की जन्म शताब्दी पर एक अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी का कार्य बढ़िया तरीके से किया। सच पूछिए तो वे इस शानदार मंच के हृदय थे जिसमें भारत और अन्य देशों के बहुत से प्रमुख विद्वान और सांस्कृतिक हस्तियां आकर्षित हुई - वे बहुभाषी अंतर्राष्ट्रीय वृन्द-गायन के उत्तम संचालक सिद्ध हुए जो स्वर की ज़रा-सी भूल भी पकड़ लेता था और उसे बड़ी कुशलता और चतुराई से शुद्ध कर देता था।

आजकल इकबाल की परंपराओं की बड़ी चर्चा है, उसी तरह जैसे, उदाहरण के लिए, साहित्य समालोचना में पुश्किन, टालस्टाय, चेखव या गोर्की की परंपराओं का बार-बार उल्लेख किया जाता है। आलोचक इस बात पर बहस करते हैं कि ये परंपराएं असल में क्या हैं और कि आधुनिक लेखकों में से किनको उनका सच्चा अनुयायी कहा जा सकता है। मेरे विचार में जाफ़री की शायरी इकबाल की परंपराओं को आत्मसात् करके आगे बढ़ाने का श्रेष्ठ उदाहरण है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि जाफ़री ने इकबाल की शायरी की विशेष चीज़ मसनवी का नायक जनता को बनाकर उसमें एक नयी बात पैदा कर दी है; कि उन्होंने इकबाल द्वारा इतना अधिक प्रयोग की गयी काव्यात्मक संलाप तकनीक (मुकालमा) का बड़े अधिकार के साथ प्रयोग किया है, इत्यादि। लेकिन जाफ़री के लिए मुख्य सृजनात्मक प्रेरणा का मूलस्रोत इकबाल की कविता की नवीनता पैदा करने वाली विद्रोही भावना, इसका उच्च मानववाद, अत्याचारनाशक और स्वतंत्रता के प्रचारक उद्देश्य, उसका मनुष्य की असीम शक्ति और सामर्थ्य पर बल देना था जिससे वह संसार का पुनर्निर्माण कर सकता है और प्रकृति को अपने वश में ला सकता है। इकबाल का कहना है कि मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति सृष्टि के बनाने वाले सर्वशक्तिमान ईश्वर से कम नहीं है, पर जाफ़री मानव तर्क की असीम क्षमता का गुणगान करता है, वास्तविक पार्थिव मानव को सिरमौर बनाता है जिसने सृष्टि के असीम विस्तार को भेद लिया है और जो अंतरिक्ष पर विजय प्राप्त कर रहा है। जाफ़री की शायरी में इकबाल वाले सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करने के विचार और भी अधिक विकसित हुए हैं, और संसार के क्रांति-कारी पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक कल्पनाओं और प्रतीकों में सुनिश्चित उपा-दान भरा हुआ है।

व्यक्तिगत रूप से मैं अली सरदार जाफ़री के एक दिलचस्प सुझाव के लिए

सच्चे दिल से आभारी हूं जो उन्होंने विचारगोष्ठी की तैयारी के सिलसिले में दिया था। इसमें भाग लेने का निमंत्रण देते हुए अपने पत्र में उन्होंने सुझाव दिया था कि मैं इकबाल और आधुनिक रूसी साहित्य के प्रवर्तक ए० एस० पुश्किन की रचनाओं का तुलनात्मक विश्लेषण करने की समस्या के बारे में विचार करूं। उनकी सद्भावना के फलस्वरूप मैंने भारतीय साहित्य की अपनी तुलनात्मक और प्ररूपात्मक शोध के दायरे में इस नयी और दिलचस्प समस्या को शामिल कर लिया और इसे अपने शोध पत्र का विषय बना लिया और **इकबाल स्मारक ग्रंथ** में, जो दिल्ली में इकबाल की जन्म शती पर प्रकाशित किया गया था और जिसके संपादक अली सरदार जाफ़री तथा करतारसिंह दुग्गल थे, एक लेख प्रकाशित कराया था। गोष्ठी में मेरे शोध-पत्र पर विचारों का जो उत्साहपूर्ण आदान-प्रदान हुआ था, वह मुझे आज भी याद है।

जब दिल्ली में इकबाल गोष्ठी चल ही रही थी तब मैं जाफ़री के क्रियाकलाप देखता हुआ, अपने पुराने मित्र और सहयोगी की प्रशंसा ही कर सकता था। कुछ वर्ष बाद मैं उनसे फिर मास्को में मिला। उन पर इतने वर्षों का कोई प्रभाव दिखाई नहीं दिया। यह वही गतिशील और उत्साहपूर्ण जाफ़री थे जिनसे मैं बहुत वर्षों पूर्व पहली बार मिला था। जाफ़री इतना बढ़िया आदमी है कि आश्चर्य होता है। गोर्की के शब्दों में कहूं तो वह सचमुच पौरुषमय पुरुष है। वह लोकतंत्रीय ढंग को परिष्कृत अभिजात वर्गीय तौर-तरीकों के साथ सहज रीति से मिला देता है। उसके कुलीन लोगों के साथ मिलने-जुलने में कोई कृत्रिमता नहीं रहती। उनका आचरण सीधा-सादा और संकोच रहित होता है, पर साथ ही उसमें बड़प्पन रहता है। उनमें कोमलता के साथ दृढ़ता भी है। ये संयोग जाफ़री के व्यतित्व में जन्मजात है और उनकी सारी कृतियों की विशेषता हैं। कवि के तौर पर वे अति संवेदनशील गीतिकार हैं पर साथ ही वे संघर्षशील भी हैं! वे स्वच्छंदतावादी कवि भी हैं और क्रांतिकारी कवि भी। उनके ये गुण इतने स्वाभाविक रीति से घुले-मिले हैं कि हम उनकी कविता को क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद की कविता कहते हैं। मैंने अपनी नई पुस्तक **आधुनिक भारतीय साहित्य** में जो 1981 में मास्को में प्रकाशित हुई थी, भारतीय साहित्य की इस महत्त्वपूर्ण विशेषता का एक अलग अध्याय में विस्तृत विश्लेषण किया था। मेरे विचार में अली सरदार जाफ़री की शायरी आज़ादी के लिए क्रांतिकारी संघर्ष और मानव के सुख की करुणा से भरी हुई है; उसमें मानव-जाति के बेहतर भविष्य का एक सपना है और पुरानी दुनिया के ध्वंस के लिए एक आह्वान है और क्रांतिकारी स्वच्छंदतावाद को भारतीय कविता में, जिसके अगुआ नज़रुल इस्लाम, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और जोश मलीहाबादी थे, एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मानना चाहिए।

कहना न होगा कि एक छोटे से लेख में अली सरदार जाफ़री जैसे महान लेखक की रचनाओं का पूर्ण विवेचन नहीं हो सकता। मैं उनकी कविता की कुछ उन विशेषताओं की संक्षेप में चर्चा करूंगा जो मेरी राय में आज के भारतीय साहित्य की सर्वोत्तम कृतियों में हैं।

प्रथम तो यह बात उल्लेखनीय है कि अली सरदार जाफ़री नवीनता लाने वाले, नयी धरती तैयार करने वाले और साहित्य में नये मार्ग बनाने वाले व्यक्ति हैं। फिर भी, जो लोग नवीनता लाने का दावा करते है वे असल में ऐसे कवि होते हैं जो नकली नवीनता लाने वाले होते हैं। साहित्य में सच्ची नवीनता सिर्फ वह खोज, प्रयोग और आविष्कार है जो ज़माने की आत्मा से पैदा हो, और आम जनता के हितों की संवर्धक हो, न कि थोड़े से काव्य-कुशल लोगों की रुचि और ज़रूरतें पूरी करती हो। जाफ़री की कविता की विशेषता इसी प्रकार की नवीनता है।

ऐसे कवि भी हैं जिन्हें नवीनता पैदा करने वाले समझा जाता है पर जो अपनी राष्ट्रीय विरासत को नकार देते हैं और अपने देश की सांस्कृतिक परंपरा से संबंध विच्छेद कर लेते हैं; दूसरे शब्दों में, वे किसी दृढ़ आधार के बजाय रेत पर अपनी इमारत खड़ी करने लगते हैं। स्वभावतः ऐसी इमारत मजबूत नहीं होती, यह शीघ्र ढह जाती है और अकसर ऐसी गायब होती है कि इसका निशान भी नहीं बचता। जो नवीनता लोकतंत्रीय जनपरंपराओं के आधार पर खड़ी होती है, जब किसी लेखक की रचना में राष्ट्रीय अंश संसार की प्रगतिशील संस्कृति के अनुभव से समृद्ध होता है, वही नवीनता सच्ची होती है। जाफ़री की नवीनता में बिल्कुल ये ही गुण पाए जाते हैं।

भविष्य के कवि ने अपनी माता के दूध के साथ भारतीय सांस्कृतिक विरासत का सौंदर्य और अनुभव आत्मसात् किया, वली और मीर तकी मीर की गजलें, सौदा और मिर्ज़ा गालिब की गजलें, अलताफ हुसैन हाली और मुहम्मद इकबाल की कविताएं। पर उन्होंने अपनी प्रेरणा भारत की तथाकथित 'मुस्लिम संस्कृति' के श्रेष्ठ नमूनों से ही नहीं ली। उन्होंने अपनी कला-चेतना में तथाकथित हिंदू सांस्कृतिक विरासत के श्रेष्ठ नमूनों को भी आत्मसात् किया। इस प्रकार हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय, जो मध्य युग से भारतीय संस्कृति को समृद्ध कर रहा है और जो जाफरी की कविता में सहज-स्वाभाविक है, इसे एक अखिल भारतीय स्वरूप दे देता है और भारत के सांस्कृतिक एकीकरण को बढ़ाता है।

सामाजिक न्याय के लिए भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और भारत का अंतर्राष्ट्रीय कंयुनिस्ट आंदोलन जाफ़री की कविता को उपादान प्रदान करने वाले अक्षय स्रोत बन गए हैं। अपनी रचना **लखनऊ की पांच रातें** में उन्होंने लिखा था :
"जो चीज़ मुझे परेशान करती रही है, वह यह प्रश्न नहीं है कि संसार क्यों

जीवित है और इसका आरंभ कैसे हुआ, बल्कि यह प्रश्न है कि संसार जैसा है वह वैसा क्यों है। अपने बचपन से मैं इस सवाल पर विचार करता रहा हूं।"

जाफ़री ने अपना साहित्यिक जीवन और अपना सार्वजनिक जीवन बीसवीं सदी के चौथे दशक में आरंभ किया जो विश्व साहित्य के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ष था। "आप किसकी तरफ़ हैं, संस्कृति के गुरुओं ?" : गोर्की द्वारा प्रस्तुत इस प्रश्न ने उस समय बहुत से लेखकों के वैचारिक और कलात्मक पक्ष का निर्णय कर दिया और उन्हें नाजीवाद तथा प्रतिक्रिया के विरुद्ध संघर्ष करने वालों में खड़ा कर दिया। जाफ़री ने इस प्रश्न का उत्तर बिना किसी हिचकिचाहट के दिया। वे भारत में लोकतंत्रीय आंदोलन के उफान के मध्य जनता के कवि के रूप में पनपे। उन्होंने प्रगतिशील भारतीय लेखक संघ, भारतीय कंयुनिस्ट पार्टी और अखिल भारतीय छात्र संघ में सक्रिय हिस्सा लिया।

बेतहाशा जुल्मोसितम भी उनकी आवाज़ न दबा सके, न उन्हें समझौते के लिए मजबूर कर सके। अपनी जेल की कोठरी से उन्होंने क्रांति की आग की चमक देखी, नए संसार को अपना अभिनंदन भेजा, रूसी क्रांति का स्वागत किया और वी० आई० लेनिन की प्रशंसा की जिन्होंने सारे अत्याचार पीड़ित जगत को स्वतंत्रता की राह दिखाई।

द्वितीय विश्व युद्ध में सोवियत जनता ने जो वीरतापूर्ण संघर्ष किया उसके समर्थक आंदोलन में जाफ़री के सक्रिय योगदान की हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। महान देश-भक्तिपूर्ण युद्ध के भूतपूर्व सैनिक के नाते मैं जाफ़री की उन रचनाओं को विशेष प्रिय मानता हूं जिनमें नाजीवाद के लिए घृणा और अवहेलना तथा हमारी महान विजय में अटल विश्वास भरा हुआ है।

हमें वे प्रेरक कारण भी नजदीकी और सुबोध लगते हैं जिनसे जाफ़री सोवियत संघ के साथ मैत्री और शांति के आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लेने लगे और उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहे एशियाई तथा अफ्रीकी राष्ट्रों के साथ एकता के आंदोलन को पुष्ट करते रहे।

इस प्रकार अपनी सब जटिलताओं और अंतर्विरोधों के बावजूद आज का सामाजिक-राजनीतिक जीवन जाफ़री की रचनाओं का मुख्य कथ्य बन गया है। पर यह आदमी को पृष्ठभूमि में नहीं फेंक देता, न उस पर हावी हो जाता है, जैसाकि कभी-कभी कुछ प्रगतिशील कवियों के सिलसिले में हुआ करता है। उनकी शायरी में नागरिक देश-भक्तिपूर्ण और सामाजिक विषय का प्रेम-गीतियों के साथ सहज-स्वाभाविक संयोजन हुआ है। जाफ़री के मानवतावादी विधान में प्रेम सबसे शक्तिशाली और सबसे ऊंची भावना है। यह मनुष्य को सब कुछ करने में मदद देती है: मनमानापन और हिंसा इसके सामने पीछे हट जाती है, यह मृत्यु को भी विजय कर लेती है। इस देश में जाफ़री की वे कविताएं विशेष लोकप्रिय हैं,

'डूबा तारा', 'घोषणापत्र', 'भटकना'; 'मेरे प्यारो, मेरे साथियो' जो प्रेम के उदात्त और सर्वजयी भाव की प्रधानता स्थापित करती हैं।

जैसाकि मैंने पहले कहा था, मैंने जाफ़री की सलाह मानी और इकवाल तथा पुश्किन की कविताओं की तुलनात्मक और प्ररूपात्मक शोध की। मेरा ख्याल है वे नाराज़ न होंगे अगर मैं इस शोध को आगे जारी रखते हुए उनकी अपनी कविता की तुलना सोवियत साहित्य के संस्थापकों, गोर्की और मायकोवस्की की रचनाओं से करूं; विशेषतः इस कारण यह शोध और भी उचित है कि इक़बाल ने तो पुश्किन का नाम नहीं सुना था जबकि जाफ़री, जैसाकि उन्होंने स्वयं माना था, इन दोनों सोवियत लेखकों से बड़े प्रभावित हुए थे। "आपकी पुस्तकों से हम जो प्रेरणा लेते हैं यहां मुझे उसके लिए कृतज्ञता प्रकट करने की अनुमति दीजिए", जाफ़री ने 1954 के द्वितीय सोवियत लेखक सम्मेलन में बोलते हुए कहा था।

प्रथम तो, मेरे विचार में, गोर्की और मायकोवस्की ने जाफ़री को, अन्य अनेक भारतीय लेखकों की तरह, महान अक्तूबर क्रांति के, जिसने मानव जाति के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात किया, जीवनदायी विचार समझने में मदद दी। जाफ़री ने लिखा था : "रूसी क्रांति और गोर्की ने हमें विश्वास करा दिया है कि रूस में दहक रही आग पर क्रांतिकारी गीत रचे जा सकते हैं और कि ये गीत उन लोगों का हौसला ऊंचा कर सकते हैं जो ये गीत सुनेंगे।" मुझे ऐसा लगता है कि जाफ़री प्रथमतः गोर्की की शुरू की क्रांतिकारी और रोमांटिक रचनाओं से प्रभावित हुए हैं। मैं सिर्फ एक उदाहरण दूंगा। जाफ़री की कहानी 'चाहरू कप्तान' इस देश में बड़ी लोकप्रिय है। इसका रूसी अनुवाद पहले 30 वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था और इसे भारतीय कहानियों के संकलनों में बार-बार शामिल किया गया है। यह बात नज़र में आए बिना नहीं रहती कि इसका मूड (मनोभाव) और इसका मूलकथ्य गोर्की की आरंभिक कहानियां 'चेलकाश' और 'माल्वा' के बहुत निकट है।

चाहरा के लिए, जो एक देहाती लड़की है और जिसके माता-पिता युद्ध में मर चुके हैं, ज़िंदा रहने और भूख से मरने से बचने का एकमात्र उपाय वेश्या बन जाना है। पर इतना नीचे गिर जाने के बाद भी उसने अपनी मानवीय आत्मा को बचाए रखा और अपनी दुर्दशा को स्वीकार नहीं किया। उसकी आत्मा सुख और मुक्ति के लिए व्याकुल है। गंद और गिरावट के बीच वह शुद्ध आत्मा बनी रहती है। वह सच्चे प्रेम और सुख की भूखी है, कमज़ोरी और कायरता से नफ़रत करती है, और ये कमियां उस आदमी में भी सहन नहीं कर सकती जो उससे प्रेम करता है—उसका प्रेमी है मछियारा गणेश। "प्यार करने के लिए हिम्मत करनी पड़ती है···! मुझे कायरों से नफ़रत है। मुझे वे लोग पसंद हैं जो मुस्कराते हुए मौत की ओर जाते हैं। देखो—समुद्र में तूफान आ रहा है। तरंगें ऊंची हैं।

अगर मैं गणेश से अपनी नाव लेकर जाने को कहूं तो वह हिम्मत नहीं करेगा। वह तट से ही अपना जाल फेंकेगा। यह मछियारा है तेरे लिए !" वह नफ़रत के साथ कहती है। "और मुझे भी वह मछली की तरह पकड़ना चाहता है।"

जाफ़री की इस कहानी और गोर्की की आरंभिक कहानियों की समानता केवल इस तथ्य तक सीमित नहीं है कि जाफ़री का मुख्य पात्र गोर्की के रोमांटिक हीरो की कुछ याद दिला देता है। गोर्की की रचना की तरह जाफ़री की कहानी में भी उफनते सागर के दृश्य अमानवीय और क्रूर वास्तविकता पर विरोध प्रदर्शित करते हैं और एक ऐसे शुद्धताकारक तूफान की आशा रखते हैं जो पुरानी दुनिया का ध्वंस करके धरती पर एक नए जीवन की सृष्टि करेगा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सोवियत साहित्य के संस्थापक गोर्की की कृति का जो रूस की श्रमजीवी जनता की—जिसने संसार की पहली समाजवादी क्रांति की थी—भावनाओं और प्रयत्नों को प्रतिबिंबित करती थी, जाफ़री तथा अन्य अनेक भारतीय लेखकों पर भी प्रभाव पड़ा है। लेकिन मेरे विचार में, जाफ़री पर कवि रूप में महान सर्वहारा कवि मायकोवस्की का बहुत प्रभाव पड़ा। **इनो स्त्रेन्नाया लितरेतुरा** पत्रिका (संख्या 4, 1956) में प्रकाशित अपने लेख 'गीत की रीत' में जाफ़री ने बताया था कि किस प्रकार अपनी पहली रूस-यात्रा में उनका "मायकोवस्की से अधिक घनिष्ठ परिचय हो गया था"; किस तरह के लेनिनग्राद और मास्को की सड़कों पर घूमते थे और मायकोवस्की के संग्रहालय में गए जहां "प्रत्येक लेख मायकोवस्की का ध्यान दिलाता था।" जाफ़री ने लिखा है कि मायकोवस्की का प्रभाव सब देशों में फैला है क्योंकि मायकोवस्की कवि है जो किसी एक देश का नहीं है; मायकोवस्की युग कवि है, इसी युग का जो मानव जाति का भविष्य बन गया है। पर फिर, क्या सरदार जाफ़री स्वयं इस युग के कवि नहीं हैं ? जो शब्द उन्होंने मायकोवस्की के बारे में कहे हैं क्या वे स्वयं उन पर लागू नहीं होते ? "उनके लेखन का प्रतिभापूर्ण गुण, वास्तविक जीवन से उनकी निकटता, अपने सामने की हर चीज़ के लिए उनका प्रगाढ़ प्रेम, वह प्रेम जो प्रति दिन दृढ़तर होता जाता है, वह जादुई शक्ति जिससे वे अपने राजनीतिक विश्वासों को काव्यात्मक रूप दे देते थे, ये सब चीज़ें हमें उनकी ओर आकर्षित करती थीं।" ठीक ये ही गुण जाफ़री की अपनी कविता में हैं जो भारत, सोवियत संघ और अन्य देशों के करोड़ों लोगों को उनकी ओर आकर्षित करते हैं। "जाफ़री करोड़ों लोगों के सामने बोलने के लिए पैदा हुआ है", एक प्रमुख सोवियत कवि और जाफ़री के परम मित्र स्वर्गीय निकोलाई तिखोनोव ने लिखा था, "पद्य में और गद्य में जीवन और राष्ट्रीय स्वाधीनता संबंधी विषयक नाटकों की रचना में, राष्ट्रों के बीच मित्रता के पक्ष में, सबके लिए अच्छे भविष्य के पक्ष में बोलने के लिए।"

'यह मेरी क्रांति है !' मायकोवस्की ने महान अक्तूबर क्रांति को बिना शर्त स्वीकार करते हुए कहा था। उसने अपनी सारी शक्ति उस जनता की सेवा के लिए अर्पित कर दी थी जिसने वह क्रांति की थी। उसी प्रकार अली सरदार जाफ़री, 'भारत के मायकोवस्की'; ने अपनी सारी शक्ति और सामर्थ्य, अपनी सारी योग्यता जनता के सुख के लिए, सारी मानव जाति के बेहतर भविष्य के लिए अर्पित कर दी है।

रांगेय राघव से भेंट

कई वर्ष पहले मास्को के स्टेट फिक्शन पब्लिशिंग हाउस ने प्रमुख हिंदी लेखक रांगेय राघव द्वारा लिखित उपन्यास 'मुर्दों का टीला' का रूसी संस्करण प्रकाशित किया था। जब मैं इस उपन्यास की भूमिका तैयार कर रहा था, तब मुझे उनकी कुछ रचनाएं पढ़ने का मौका मिला जिनमें यह उपन्यास भी था। मुझे भारतीय साहित्यकारों द्वारा की गयी इस उपन्यास की आलोचनाओं की भी जानकारी हुई और विभिन्न देशों के इतिहासकारों द्वारा, जिन्होंने मोहनजोदड़ो की घाटी की प्राचीन सभ्यता का अध्ययन किया था, लिखी रचनाओं से भी मेरा परिचय हुआ।

बाद में, नवंबर 1961 में, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्मशताब्दी के सिलसिले में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक गोष्ठी में भाग लेने के लिए प्रसिद्ध सोवियत लेखक व्सेवोलोद आइवनोव के साथ मैं दिल्ली गया और वहां मैं लेखक से मिला। गोष्ठी समाप्त होने पर हम जयपुर में रांगेय राघव के घर गए। वे तब जयपुर विश्वविद्यालय में लेक्चरर थे।

उन्होंने हमें एक बड़ी, सु-प्रकाशित बैठक में बैठाया जहां इतिहास, दर्शन, कला की बहुत सारी पुस्तकें और उपन्यास आदि भी रखे हुए थे। कमरे के कोने में रखे एक बुक शेलफ पर स्वयं रांगेय राघव की लिखी हुई पुस्तकें रखी थीं। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अभी 40 वर्ष की उमर पर भी नहीं पहुंचे एक व्यक्ति ने इतनी सारी किताबें लिख डाली हैं। हमने उन्हें दिलचस्पी से देखा। अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास थे जिनमें लेखक ने अतीत के रहस्य उद्घाटित करने का, और यों कह सकते हैं कि देश के इतिहास की लुप्त कड़ियां बनाकर जोड़ने का यत्न किया था।

अपने उपन्यास 'देवकी का बेटा' में रांगेय राघव ने, भारतीय साहित्य में पहली बार कृष्ण को प्राचीन भारत के एक राष्ट्रीय वीर, सब अधिकारों से वंचित जनता के सुख के लिए लड़ने वाले के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया।

अपने उपन्यास 'चीवर' में लेखक ने सातवीं सदी के भारत की चर्चा करते

हुए अपने देश के अतीत की कुछ दिलचस्प घटनाओं को कल्पित करके प्रस्तुत किया।

दूसरी सदी के आरंभ में भारत में चल रहे जन आंदोलनों के वारे में हमें कोई जानकारी नहीं है। 'जब आवेगी काली घटा' (1958) और 'धुआं' (1958) उपन्यासों में रांगेय राघव ने यह दिखाने का यत्न किया है कि किस तरह सामंतों और पुरोहितों के दमन और मनमानेपन के विरोध में जनता में विद्रोह की भावना भड़क उठी और उस समय के भारत में धार्मिक समुदायों के आंदोलनों के लोकतंत्रीय स्वरूप की चर्चा की है।

भारत में रांगेय राघव ऐतिहासिक उपन्यासकार के ही रूप में सुप्रसिद्ध नहीं हैं। लेखक ने आधुनिक भारत के जीवन पर भी अपनी दृष्टि डाली है। आपके सामाजिक उपन्यास 'सीधे-साधे रास्ते' (1957)—जिसमें मनुष्यों के जीवन को पंगु बना रहे घिसे-पिटे सामाजिक संवंधों के विरोध में प्रगतिशील भारतीय वुद्धिजीवियों के संघर्ष का चित्रण किया है—'कब तक पुकारूं' (1957) है– इसमें एक छोटी जाति --नाथ—के लोगों के दुखदायी और दयनीय जीवन की चर्चा की गयी है।

लेखक ने भारत के इतिहास और साहित्य पर काव्येतर रचनाएं भी की हैं जिनमें सवसे प्रमुख 'प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास' (1954), और 'काव्य यथार्थ और प्रगति' (1955) हैं। रांगेय राघव की रचनाएं इस बात की गवाह हैं कि उनकी दिलचस्पी कितनी विस्तृत और विविधतापूर्ण है और कि भारत में विभिन्न युगों में जो प्रमुख सांस्कृतिक मूल्य विकसित हुए, उनका भौतिकवादी आकलन वे करना चाहते थे।

रांगेय राघव ने सोवियत साहित्य और सोवियत जनता में सक्रिय दिलचस्पी दिखायी। उन्होंने कई सोवियत कवियों की रचनाओं का हिंदी में अनुवाद किया है। उनका सवसे लोकप्रिय अनुवाद मायकोवस्की का 'लेफ्टमार्च' है जिसमें अनुवादक को हमारी क्रांति की गहरी करुणा और युवावस्था का स्वस्थ वातावरण, जो मायकोवस्की की कविता की अपनी विशेषता है, हिंदी कविता के माध्यम के पदविन्यास के द्वारा पुनः सर्जित करने में सफलता मिली है।

'मुर्दों का टीला' उपन्यास का अव रूसी भाषा में अनुवाद हो गया है। रांगेय राघव की कई कविताओं के अलावा जो सोवियत संघ में पहले छपी थीं, यह उनकी ऐसी पहली प्रमुख रचना है जो सोवियत पाठकों का एक ऐसे प्रगतिशील लेखक की रचनाओं से परिचय कराती है जिसे ऐतिहासिक उपन्यास की विधा में प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है। इस उपन्यास की सोवियत जनता ने वड़ी प्रशंसा की। पर इस उपन्यास को सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यह एक परिकल्पना पर आधारित है, इतिहास के तथ्यों पर नहीं।

रांगेय राघव की कल्पना सृष्टि कुछ अंश में निश्चित रूप से पुरातत्वीय खुदाइयों और वैज्ञनिक पूर्वधारणाओं पर अवलंबित है ।

अपने उपन्यास में लेखक एक प्राचीन युग के भारतीय समाज के जीवन का स्वरूप प्रस्तुत करने और यह दिखाने में सफल हो गया है। जिस समय उपन्यास प्रकाशित हुआ, लगभग उसी समय आखिरी ब्रिटिश सैनिक भारत से जा रहा था — वह बंबई के गेट वे आफ़ इंडिया से ओत्सविक मार्च करता हुआ गया और फिर सदा के लिए भारत से चला गया। यह उपन्यास दासता से ज़ोर-शोर से लड़ने के लिए भावपूर्ण अपील करता है ।

'मुर्दो का टीला' उन देशभक्त भारतीय लेखकों की कृतियों की श्रेणी में आता है जिन्होंने अपने समकालीन लोगों को बेहतर भविष्य के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देने के लिए भारत के अतीत का चित्र प्रस्तुत किया । अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में रांगेय राघव ने वह परंपरा आगे बढ़ायी जो बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने बहुत पहले उन्नीसवीं सदी के अंत में बंगाली साहित्य में शुरू की थी और जिसे मराठी साहित्य में बीसवीं सदी के आरंभ में हरिनारायण आप्टे ने आगे बढ़ाया था और भारत बहु-भाषीय साहित्य के बहुत सारे लेखकों की रचना में परिवर्धित किया गया है ।

रांगेय राघव की रचनाओं के विशेषज्ञ भारतीय समीक्षक कभी-कभी 'मुर्दो का टीला' की तुलना ब्रिटिश लेखक बुलवर लिटन के ऐतिहासिक उपन्यास 'लास्ट डेज़ आफ़ पोंपिआई' (1934) (पोंपिआई के अंतिम दिन) से करते हैं । इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यह तुलना निराधार नहीं है।

परंतु मेरे विचार से, दोनों कृतियों में समानता होते हुए भी, उनकी साहित्यिक श्रेष्ठता और विचारों में बुनियादी अंतर है; लिटन की रचना का यह कथानक एक प्रेम-द्वंद्व पर आधारित है जबकि रांगेय राघव के उपन्यास का आधार एक मार्मिक सामाजिक द्वंद्व है। भारतीय लेखक ने एक कभी न मिटने वाला वर्ग-संघर्ष दिखाया है और ब्रिटिश उपन्यासकार ने गुलामों और उनके मालिकों के बीच सुखद संबंध दिखाए हैं।

'मुर्दों का टीला', जो प्रमुख प्रगतिवादी भारतीय लेखक राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा लिखे गए उपन्यासों 'मधुर स्वप्न' और 'सिंह सेनापति' तथा यशपाल के उपन्यास 'दिव्या' और कुछ अन्य कृतियों की परंपरा में है, भारतीय ऐतिहासिक उपन्यास की विधा के विकास का सूचक था ।

इस विधा के प्रगतिशील भारतीय लेखकों की रचनाओं की भेदक विशेषता— इतिहास का वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थ लगाने और इन रचनाओं में वर्णित काल में भारतीय समाज की वास्तविक सामाजिक-आर्थिक स्थिति का वर्णन करने की इच्छा है ।

रांगेय राघव की मृत्यु की खबर सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मुझे लगता है कि लेखक अपनी कृतियों में आज भी जीवित है और जनता को अपने विचार दे रहा है, उन्हें जीवन के बारे में सोचने को प्रेरित कर रहा है और अपना विशाल हृदय उनके लिए खोल रहा है।

कई हज़ार सोवियत पाठक 'मुर्दों का टीला' पढ़ कर रांगेय राघव से पहले ही परिचित हो चुके हैं। वे 'कब तक पुकारूं' भी पहले ही पढ़ चुके हैं। उनके इस उपन्यास का भी रूसी में अनुवाद हो चुका है।

गजानन माधव मुक्तिबोध की परंपराएं

1961 की शरद ऋतु में मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्मशती के समारोह के लिए बनायी गयी सोवियत संघ की समिति के सचिव के नाते उस स्मरणीय घटना के प्रसंग में हो रहे उत्सवों में भाग लेने भारत आया था। साहित्य अकादमी द्वारा दिल्ली में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर गोष्ठी के कार्यक्रम पूरे होने के बाद मैंने सारे देश की यात्रा की, भारतीय लेखकों और विद्वानों से भेंट की और विभिन्न स्थानों पर सभाओं और सम्मेलनों में भाषण दिए। रवीन्द्रनाथ पर भाषण देने के अलावा, मैंने भारतीय साहित्य के विभिन्न प्रसंगों पर भी व्याख्यान दिए; उस समय मेरे विचार का मुख्य विषय भारतीय साहित्य का काल-विभाजन था जिसका संबंध मेरे हिंदी साहित्य पर लिखे जा रहे एक छोटे निबंध से था जो मैं उस समय लिख रहा था। सदा ही मेरे भाषणों पर उत्साह-पूर्वक चर्चा होने लगती थी और भारतीय अखबारों में वे बहुत छपते थे। अपने व्याख्यान के बाद रुक कर मैं अपनी दिलचस्पी के विषयों पर भारतीय विद्वानों से विचार-विनिमय करता था। मुझे याद आता है कि ऐसे एक व्याख्यान के बाद अधेड़ उम्र का एक व्यक्ति, जो बीमार लग रहा था, मुझ से कोई प्रश्न पूछने आया। मेरे जवाब देने पर उसने मेरा पता पूछा और बोला कि वह अपनी नयी पुस्तक मुझे भेजना चाहता है। यह कहां की बात है, उसने क्या पूछा था और मैंने क्या जवाब दिया था, ये बातें तो मुझे अब याद नहीं हैं। उस समय मैंने इस भेंट को कोई खास महत्त्व नहीं दिया। जहां तक उसके शारीरिक रूप का संबंध है, उसकी सिर्फ आंखें मुझे अब भी याद हैं— उनमें इतनी तीव्रता थी कि उसकी दृष्टि मुझे छेदती हुई-सी चली गयी और मेरे मन पर एक गहरी छाप छोड़ गयी। वह आदमी मुक्तिबोध था। यह हमारी पहली और अंतिम भेंट थी। उस समय मैं उसके बारे में कुछ भी नहीं जानता था। बहुत वर्षों बाद मुझे इस बात पर बड़ा अफसोस हुआ कि मुझे उन्हें अधिक घनिष्ठता से जानने का कोई मौका नहीं मिला, मैंने उनसे उनके जीवन और कार्य के बारे में भी नहीं पूछा और इस महत्त्व-पूर्ण और सार्थक तथ्य से भी मैं अपरिचित रहा जो बाद में मेरी समझ में आया

और उनकी रचनाओं से परिचित होने के बाद मैंने उसे गहराई से अनुभव किया। इस भेंट के एक वर्ष बाद मुझे सफेद कागज़ में लिपटी एक पुस्तक मिली जिस पर उसका नाम स्पष्ट और सुंदर अक्षरों में लाल पेंसिल से लिखा था : **कामायनी : एक पुनर्विचार**। पुस्तक पर लेखक ने लिखा था : "परम आदरणीय चेलिशेव महोदय को सप्रेम भेंट। जी० एम० मुक्तिबोध, राजनंदगांव, *27 जून, 1962*।" मेरा ख्याल है, कि यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्तिबोध के इस उपहार को मैं कितने प्रेम आदर से संभाल कर रखता हूं।

एक लेखक और एक व्यक्ति के नाते उनका बड़ा सम्मान और प्रशंसा करते हुए मैंने निश्चय किया कि सोवियत जनता को उनकी कृतियां सुलभ कराने और उनके बारे में अधिक जानकारी देने के लिए मैं जो कुछ संभव होगा, करूंगा।

उनकी छह कविताओं का पहला रूसी अनुवाद समकालीन हिंदी कविता के एक बड़े संग्रह **'दीपों का उत्सव'** में 1975 में प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स से प्रकाशित हुआ था। यह संकलन प्रभाकर माचवे ने और मैंने तैयार किया था और इसकी भूमिका भी मैंने लिखी थी।

तथाकथित 'नयी कविता' की धारा के कई हिंदी कवियों की कृतियों का परिचय देते हुए तब मैंने लिखा : 'नयी कविता' की मुख्य प्रेरणा बुर्जुआ यथार्थ को नकारने और उसकी परिवर्तन की मांग में है; इसका यथार्थ पूंजीवादी समाज की बुराइयों को निर्ममता से उधाड़ने में, इसके कठोर रुख में और इसके गुस्सैल तीखें व्यंग में है।

"उस धारा के कई कवियों ने वर्ग संघर्ष और सामाजिक संघर्ष का पर्दाफाश करते हुए महान सामाजिक सफलता प्राप्त की है और उन कवियों में हाल में स्वर्गीय हुए कवि मुक्तिबोध का नामोल्लेख किए बिना नहीं रहा जा सकता।

"···नई कविता के बहुत से प्रतिनिधियों के मुकाबले मुक्तिबोध ने आज की दुनिया में मनुष्य के कष्टों का असली कारण अधिक ठीक पहचाना है।··· उसे आस-पास का संसार पूरी तरह अंधेरे में डूबा हुआ नहीं मालूम होता। उसे अंततः मनुष्य के विजयी होने में विश्वास था।"

मेरा ख्याल है कि भारत विषयक अध्ययन करने वाले तरुण सोवियत विद्वानों को मुक्तिबोध की ओर आकर्षित करने में मुझे अधिकतर सफलता मिली थी। ए० सेंकेविच ने मुक्तिबोध की कविताओं का रूसी में अनुवाद करना शुरू किया और उनकी कृतियों पर एक दिलचस्प लेख प्रकाशित कराया। ए० स्कल्दीना ने उनके गद्य पर शोध आरंभ की।

बाद में मैंने मुक्तिबोध की बहुत सारी रचनाओं का संग्रह किया और यह अध्ययन भी किया कि भारतीय समालोचकों ने उनकी कृतियों के बारे में क्या लिखा है। मेरी एक पुस्तक में एक पूरा अध्याय उनकी कृतियों पर ही है। चूंकि

वह यहां पूरे का पूरा नहीं दिया जा सकता, इसलिए मैं उसके केवल कुछ अंश दे रहा हूं।

दुर्भाग्य से कवि, मनीषी, और साहित्य-चिंतक मुक्तिबोध को लोकप्रियता और यश मृत्यु के बाद ही मिले। इस बात में उनकी स्थिति हिंदी के महान कवि निराला जैसी रही जो इसके एक उज्ज्वल पूर्ववर्ती थे, और जिन्हें उनके जीवन-काल में मान्यता नहीं मिल सकी थी और सच पूछिए तो जिन्हें अमान्य कर दिया गया था और नफ़रत से देखा जाता था। बाद में ही जाकर उनकी रचनाओं की प्रशंसा हुई और उनका अनुकरण किया जाने लगा। यही हश्र और बहुत से कवियों का हुआ जो उस समय के मान्य आचार्यों से संघर्ष में पड़े और जिन्होंने साहित्य में नयी, अनजानी राहें निकालीं और पुराने का खंडन और नए का मंडन किया। हर वर्ष गुजरने के साथ मुक्तिबोध की कृतियों के बारे में वाद-विवाद की गर्मी बढ़ती जाती है और 'मुक्तिबोध के लिए संघर्ष अधिकाधिक खूंखार होता जाता है। सर्वथा परस्पर विरोधी काव्य-संबंधी और वैचारिक धारणाएं रखने वाले लेखक उन्हें अपना मार्गदर्शक बना लेते हैं। इस बात से उनके बारे में बहुत कुछ पता चल जाता है कि उन्हें काफ्का, सार्त्र, ह्विटमैन, मायकोवस्की, निराला और अज्ञेय की कोटि में माना जाता है। उन्हें मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, यथार्थवादी, आधुनिकतावादी और कभी-कभी स्वच्छंदतावादी माना जाता है। मुक्तिबोध ने अपनी तुलना किसी झाड़ू वाले से की थी जो धूल और कूड़ा बुहार देता है। अपने अंतिम दिनों तक वे ईमानदारी से और निःस्वार्थ-भाव से यह कठिन और अयशकारी काम करते रहे।

जो कवि पन्द्रह वर्ष पहले मर चुका उसकी ओर आज इतना ध्यान क्यों जा रहा है? उसके जीवन और कृतियों में दिलचस्पी इतनी बढ़ जाने का कारण क्या है? क्या उनकी कृतियों और विश्व दृष्टियों के परस्पर-विरोधी मूल्यांकनों का कोई आधार है।

तथ्य यह है कि मुक्तिबोध की साहित्यिक विरासत और भारतीय साहित्य में उनका स्थान असल में समकालीन, प्रगतिवादी भारतीय साहित्य—इसके अतीत, वर्तमान और भविष्य के विकास—से संबंधित तर्क है।

आज के भारत में मुक्तिबोध की बहुत अधिक लोकप्रियता का कारण यह है कि उनकी रचना का नवीनताकारक रूप भारतीय प्रगतिवादी साहित्य की वैचारिक और काव्यात्मक स्थिति पुष्ट करने का अद्भुत उदाहरण है। वे प्रगति-वादी साहित्य की संकल्पना को ही विस्तृत और संशोधित कर देते हैं, और उससे तरुण लेखकों के हाथों में एक स्पष्ट काव्यात्मक आधार आ जाता हैं जिससे सृजनात्मक साहित्य मनुष्य की सामाजिक प्रगति और आध्यात्मिक पुनर्जन्म के

लक्ष्यों की पूर्ति कर सकता है जो प्रतिक्रिया के विरुद्ध संघर्ष में एक भरोसे लायक हथियार है।

मुक्तिबोध अपनी मृत्यु के समय अपने सृजनात्मक कार्य के शिखर पर थे जबकि वे नयी आशाओं और भविष्य की योजनाओं से भरे हुए थे। पर जनता के मनों में वे अब भी जीवित हैं। उनकी कविताएं असाधारण रूप से समसामयिक और अद्यतन हैं। बहुत से प्रगतिवादी भारतीय लेखक यह अनुभव करते हैं कि लोकतंत्र, शांति और प्रगति के लिए उनके संघर्ष में वे अब भी उनके साथ हैं। वे लोकतंत्रीय मनोवृत्ति के तरुण लोगों के लिए देवमूर्ति बन गए हैं। उनकी कविता और काव्य-संबंधी विचार एक अक्षय भंडार बन गए हैं जिनमें बहुत से तरुण भारतीय लेखक जीवन और साहित्य में नए मार्ग तलाश करते हुए उनसे शक्ति और प्रेरणा पाते हैं।

मुक्तिबोध उन लोगों के लिए अगम्य हैं जो अपने आसपास की दुनिया के संघर्ष में नहीं पड़ते, जो अपनी कृतियों में तीखी समस्याओं से निपटने को तैयार नहीं थे, जो आज के यथार्थ जीवन के संघर्षों को समझने की कोशिश नहीं करते, जो या तो इस जीवन से पलायन करना चाहते हैं और किसी काल्पनिक दुनिया में आश्रय पाना चाहते हैं या जो समझौता कर लेते हैं। ऐसे लोगों की मुक्तिबोध से कोई तुलना नहीं हो सकती चूंकि मुक्तिबोध ने अपने नगर और देश के प्रति अपने दायित्वों को पूरा किया है और वे सच्चे अर्थों में जनता के कवि थे।

मुक्तिबोध ने भारतीय लेखकों की श्रेणी में बैठने का दावा कभी नहीं किया क्योंकि परंपरा के प्रति उनका रुख निहिलिस्ट या विनाशवादी था पर कुछ भारतीय लेखक जीवन और साहित्य में प्रचलित सब घिसी-पिटी और लोचहीन बातों पर उनके दृढ़ विरोध को सामान्यतया परंपरा का खंडन मानते हैं। यह जरा भी संभावना नहीं है कि उसका आकलन सही है। अपने सारे जीवन मुक्तिबोध अपनी जनता की सांस्कृतिक परंपरा से जुड़े रहे थे। वे जीवन की प्रेरणा उनसे ही लेते थे और पूर्ववर्ती भारतीय साहित्यकारों के सर्वोत्तम सृजनात्मक कार्य का उपयोग प्रगतिवादी समसामयिक साहित्य के विकास के कार्य में करने की कोशिश करते थे।

मुक्तिबोध ने दृढ़ता और आवेश के साथ परंपरा के वर्गाश्रित दृष्टिकोण का पक्षपोषण किया और जनता से अनुरोध किया कि वह घिसी-पिटी बातों को अमान्य कर दे और भारत की समृद्ध सांस्कृतिक थाती का एक प्रगतिवादी समकालीन साहित्य के विकास के लिए उसके सर्वोत्तम मानववादी तत्त्वों का सृजनात्मक उपयोग करे। अपनी रचना **कामायनी : एक पुनर्विचार** में उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कामायनी की परीक्षा की जो छायावाद के एक आरंभिक लेखक जयशंकर प्रसाद ने 1936 में लिखी थी। प्राचीन पौराणिक

पात्रों - मनु और उसकी पत्नियों इडा तथा श्रद्धा के बहुत प्रचलित रूपों के विरुद्ध लिखते हुए मुक्तिबोध ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि जयशंकर प्रसाद ने पौराणिक पात्रों को एक समसामयिक अर्थ दे दिया है। उनकी राय में पौराणिक कहानी समकालीन विचारों की व्याख्या करने का एक सामान्य रूप है। "प्रसाद का मनु कोई वैदिक हीरो नहीं है", उन्होंने लिखा। "वह भारतीय समाज के उसी वर्ग का आदमी है जिसमें लेखक स्वयं रहता है।"

प्रसाद के अमूर्त मानवतावादी आदर्श की आलोचना करते हुए मुक्तिबोध फिर भी यह मानते थे कि कवि पर मार्क्सवादी प्रभाव निश्चित रूप से रहा है और कि उनकी कृतियों से जमाने की भावना प्रतिबिंबित होती है और उनकी रचनाएं भारतीय समाज में हो रहे सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों पर रोशनी डालती हैं। मुक्तिबोध ने कामायनी के प्रतीतिवाद के विरोध में लिखा था : जिसे पुरानी परंपरा के लेखक परंपरावाद को काव्य के स्तर तक पहुंचाने की कोशिश में अपनी ढाल के रूप में इस्तेमाल करते थे।

मुक्तिबोध की रचनाएं दुःख, कष्ट और वर्तमान संसार से अत्यधिक असंतोष से भरी हुई हैं। पर निराला की तरह मुक्तिबोध की रचनाओं का दुःख और कष्ट कहीं भी बिल्कुल निजी और आत्मनिष्ठ नहीं है। उसके लिए व्यक्तिगत कष्ट सहन अपने लोगों के कष्ट के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। निराला की तरह, जिनके मुक्तिबोध बड़े प्रशंसक थे, वे एक जुझारू कवि थे। वे असंस्कृतों और बेईमानों, नौकरीबाजों और वक्त गुजारुओं के विरुद्ध मैदान में कूदे। वे अकेले दम लड़े, अपनी लाचारियों या विरोधियों की ताकत की बिना परवाह किये और इस कारण उन्हें अक्सर पीछे हटना पड़ा। पर वे कभी निराश नहीं हुए और न उन्होंने संघर्ष से हाथ खींचा।

आधुनिकतावादी प्रवृत्ति के कुछ भारतीय लेखक मुक्तिबोध को निराशावाद और हताशता के कवि के रूप में पेश करते हैं। लेकिन मुक्तिबोध ने अंधकार को कभी भी अभेद्य नहीं समझा। उनकी कविता की दुःखभरी रागिनी में आशावादी स्वर भी सुनायी देते हैं। निराशा के अंधकार को प्रकाश की एक चमकीली किरण भेद जाती है और आत्मा को गहरे संवेग से भर जाती है। फूलों की कोमल सुगंध वर्षा में व्याप जाती है। ये बिंब आशा जगाते हैं और मृत्यु पर जीवन की अनिवार्य विजय में विश्वास फूंकते हैं। नामवरसिंह के शब्दों में, "यद्यपि मुक्तिबोध का कविता-जगत् घृणा और भय से भरा हुआ है, लेकिन आपको आशा का भी एक स्वर उसमें अवश्य सुनाई देगा।"

अपनी कविता 'एक भूतपूर्व विद्रोही की दोष स्वीकृतियां' में मुक्तिबोध यह मानते हैं कि अपने देश की आजादी के लिए लड़ रहे लोगों के त्याग और कष्ट व्यर्थ नहीं जाएंगे। "हमारी राख और धूल से, धरती से, लाल फूल खिलेंगे।"

"लेखक स्वयं ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन होता है" मुक्तिबोध ने अपनी डायरी में लिखा है। "वह तभी असली लेखक बनता है जब अपनी आत्मा के साथ संघर्ष में पड़ता है जो शांति की कोशिश करती है।" प्रेमशंकर ने लिखा है: "अगर निराला को पहला हिंदी कवि—स्वतंत्रता सेनानी माना जाता है तो निःसंदेह मुक्तिबोध ऐसा कवि है जिसने वह परंपरा जारी रखी और नयी हिंदी कविता का दीपक बुझने नहीं दिया।"

भारतीय लेखकों का धार्मिक विचारधारा से अत्यधिक जुड़ा होना समसामयिक भारतीय साहित्य के विकास में एक गंभीर बाधा है। इस मामले में भी मुक्तिबोध के विचार भारतीय लेखकों के लिए सहायक हैं। अपने लेख "हम मुक्तिबोध को क्यों पढ़ते हैं" में साहित्यसमीक्षक विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस बात पर बल दिया है कि कवि ने अपनी रचनाओं में अपने आपको परंपरागत धार्मिक विश्वासों के बंधनों से मुक्त करने का और विज्ञान पर आश्रित यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण (ज्ञानात्मक संवेदन) की दिशा में अपना मुंह रखने का यत्न किया है। इससे कविता के एक नये सिद्धांत का जन्म हो सकता है जो किसी दिन न केवल समसामयिक हिंदी साहित्य का बल्कि सारे भारतीय साहित्य का दृढ़ आधार बन सकता है।

मुक्तिबोध की अपने लोगों की गरीबी और कष्ट में उनके साथ रहने की इच्छा समकालीन लेखकों के लिए एक प्रेरणादायक अनुकरणीय उदाहरण है। उनके पाठ उन तरुण लेखकों के लिए विशेष अर्थ रखते हैं जिन्हें यथार्थ का दुःखद प्रत्यक्षीकरण है और व्यष्टि और समाज में कोई संबंध नहीं दिखाई देता है। इनकी उन लोगों के लिए भी सार्थकता है जो बुर्जुआ जगत से मनुष्य के बेगाने हो जाने पर जोर देते हैं और इस बेगानेपन को अस्तित्व की प्रकृति और समकालीन नवीनता-प्रदर्शक कला का आधार मानते हैं। अज्ञेय की रचनाओं ने नायकों (हीरो) से भिन्नता रखते हुए, मुक्तिबोध का हीरो "अपने अलगाव पर विजय प्राप्त करता है, अपने शरणस्थल त्याग देता है, बाहर खुली दुनिया में जाता है, लोगों के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करता है और संघर्ष का अनुभव करता है।"

मुक्तिबोध प्रगतिवादी भारतीय लेखकों से ताल मिलाए हुए है क्योंकि उसकी कविता अपने जमाने से अपने राष्ट्रीय वातावरण से और अपने लोगों की सांस्कृतिक विरासत से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। वह उन लेखकों की, जो परंपराओं को समकालीन साहित्य के विकास में केवल बाधा मानते हैं, इन परंपराओं की रचनात्मक शक्तियों का दर्शन करने में मदद करता है।

"मुक्तिबोध की दृष्टि में श्रमजीवी वर्ग किसी समाज का सबसे स्वस्थ शक्तियों वाला वर्ग होता है", रामविलास शर्मा ने लिखा है, मुक्तिबोध की दिलचस्पी श्रमजीवी वर्ग में है; शर्मा जी के अनुसार, उनका श्रमजीवी वर्ग को समाज के उन्नत

वर्ग के रूप में चित्रित करना जिनमें असीम आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति है; भविष्य के निर्माण और भारतीय समाज के क्रांतिकारी नवीकरण में श्रमजीवियों की भूमिका के बारे में उनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रगतिवादी भारतीय साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां रही हैं।

मुक्तिबोध का छोटा-सा संघर्षमय जीवन और उनकी रचनाएं जनता के लिए उनकी वीरतापूर्ण और निःस्वार्थ सेवा और उनकी नागरिक के नाते और देश के प्रति अपने कर्तव्यों की निःस्वार्थ पूर्ति एक शानदार उदाहरण है। शुष्क वर्तमान ने उनकी आशाओं के दीप बुझा नहीं दिए। उन्होंने हमेशा भविष्य के लिए प्रयत्न किया और अपने देश तथा इसकी जनता का हित ही उनका मुख्य मार्गदर्शक रहा।

मुक्तिबोध अपनी सृजनात्मक योजनाएं पूरी करने के लिए अधिक दिन जीवित नहीं रहे पर अपने छोटे से जीवन में वे जो सफलता पा सके उसका हिंदी साहित्य के इतिहास में स्थायी स्थान रहेगा। आज भी वे प्रासंगिक हैं और उनकी रचनाएं आज भी अनेक तरुण लेखकों का मार्ग आलोकित करती हैं।

'पंजाब की बुलबुल'–अमृता प्रीतम

सही तौर पर पंजाब की लोक-कवयित्री अमृता प्रीतम का काव्य-जगत् बहुत समृद्ध और बहुरंगा है। उनके हमवतन उन्हें ठीक ही "पंजाब की बुलबुल" कहते हैं। उनकी कवितायें, उनके गीत सीधे मन में उतर जाते हैं, वे लोगों को हर्ष-तरंगों में बहाते हैं, दुःख-सागर में डुबाते हैं, आनंदित करते हैं, क्रोध से भरते हैं। पूरी तरह से अपनी धरती, अपनी जनता की बेटी अमृता प्रीतम, अपनी पंजाबी बहनों की दृष्टि से ही संसार को देखती हैं।

अमृता प्रीतम का काव्य पंजाब की धरती के प्रेम से पगा है। दूर-दूर तक फैले गेहूं के खेतों, पानी से भरी तेज़ नदियों, फूलती-फलती घाटियों, छोटे-छोटे गांवों की हरियाली में डूबती-सी क्षितिज पर उभरी हिमाच्छादित पहाड़ी चोटियों को वह बहुत ही चटक और सजीले रंगों में चित्रित करती हैं। वह तो मानों हमें अपनी मातृभूमि में ले जाती हैं, मुग्ध भाव से उसे अपने साथ निहारने, उसकी प्रकृति के सौंदर्य और गरिमा से हर्ष-विभोर होने को आमंत्रित करती हैं। उनकी कविताओं में अतीत के पृष्ठ सजीव हो उठते हैं। 'दिल के भेद' कविता में वह प्राचीनतम समय से आज तक, 'वेदों से स्वतंत्रता' तक की पंजाब की कहानी कहती हैं।

उनकी कविता गहनतम मानवीयता से परिपूर्ण है। मानव ही सदैव उनके ध्यान का केंद्र-बिंदु रहता है। वह प्रकृति को मानव से अलग करके कभी प्रस्तुत नहीं करतीं। उनके काव्य में पंजाब की प्रकृति का सौंदर्य बहुत ही सामंजस्यपूर्वक पंजाबियों के सौंदर्य, उनकी आत्मिक समृद्धि के साथ घुल-मिल जाता है।

पंजाबी-नारी का मनमोहक बिंब तो विशेष रूप से बहुत निखर कर अमृता प्रीतम के काव्य में उभरता है—उसमें स्त्रैणता है, कोमलता है, किंतु इसके साथ ही वह सबला है, गर्वीली और स्वावलंबी है : मुल्कराज आनंद ने, जो खुद पंजाबी हैं, अपने एक उपन्यास में पंजाबी औरतों की कवि नेक्रासोव द्वारा चित्रित रूसी नारियों से तुलना की है।

अद्भुत जनवादी रूसी कवि नेक्रासोव ने सौ से अधिक वर्ष पहले साधारण

रूसी किसान-नारी को अपनी कविता में जैसे अभिव्यक्ति दी है, वह सारे रूसी साहित्य के लिए लाक्षणिक बनकर रह गयी है।

रूसी गांवों में हैं ऐसी नारियां
शान्त भव्यता व्याप्त सदा जिनके मुख पर,
हाव-भाव में अनुपम सुषमा लिए हुए
चाल रानियों जैसी जिनकी है सुन्दर।
केवल अन्धा ही तो यह न देख सके
आंखोंवाले देखें, चर्चा यही करें,
निकल पास से जाये तो सूरज चमके
नज़र उठा देखे तो मानो फूल खिलें।

और क्या सचमुच ही नेक्रासोव की प्रसिद्ध उक्त पंक्तियों और अमृता जी की निम्न पंक्तियों में एक जैसा स्वर बजता सुनायी नहीं देता —

अहा, बहन पंजाबिन है कितनी सुन्दर
वह हिरनी-सी सुघड़, सजीली, है सत्वर,
कोमल तन की, प्रेम-पगी वह लजवन्ती
शील प्राण से बढ़कर माने सतवन्ती।

दुःख और सुख, श्रम और प्यार में पंजाबी नारी को चित्रित करते हुए, उसके आत्मिक गुणों को उद्‌घाटित करते हुए कवयित्री उसकी भावनाओं और व्यथा-वेदना के संसार में बहुत गहराई तक उतरती हैं, उसके चरित्र के विशिष्ट और जातीय लक्षणों को सामने लाती हैं।

अमृता प्रीतम मुख्यतः तो प्रगीतकार के रूप में ही भारतीय साहित्य में आयीं। उनका काव्य उग्र भावनाओं, तीव्रानुभूतियों से परिपूर्ण है, उसमें प्रेम-गीतों को प्रभुत्व प्राप्त है। अमृता प्रीतम नारी के बारे में इतना नहीं, जितना कि नारी की ओर से मुखर होती हैं और यह चीज़ उनकी कविताओं को विशेष निश्छलता, सच्चाई, गहराई और स्वतःस्फूर्तता प्रदान करती है।

उनके गीत-काव्य में अमूर्त चिंतना नहीं है। कवयित्री का ध्यान भारतीय नारी के अंतर्जगत्, अत्यधिक भावनात्मक तनाव के क्षणों में उसकी मनोदशा पर केंद्रित रहता है। उन भारतीय कवियों से भिन्न, जिनके कृतित्व में उनके व्यक्तित्व के समाज से विमुख होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, अमृता प्रीतम की गीतिमयी कविता निजी और सांयोगिक नहीं, बल्कि सामान्य तथा नियमसंगत प्रकृति को प्रतिबिंबित करती है।

भारतीय समाज में धर्म द्वारा पावन बनायी गयी परंपराओं पर आधारित

भारतीय नारी की दासानुरूप अधिकारहीन स्थिति के विषय को भारतीय साहित्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है अमृता प्रीतम ने भी इस विषय पर ध्यान केंद्रित किया है, किंतु उन्होंने अपने ही ढंग से इसकी व्याख्या की है।

कुछेक स्वच्छंदतावादी भारतीय कवियों से भिन्न जिन्होंने भारतीय नारी को बड़ी नम्रता से अपने पतिदेव की कृपा की प्रतीक्षा करनेवाली दु:ख-दर्द की प्रतिमा के रूप में चित्रित किया है, अमृता प्रीतम नारी की आत्मा में आत्म-सम्मान और निजी गरिमा की भावना जगाने; उसे अपने सुख-सौभाग्य के लिए विरोध और संघर्ष के हेतु प्रेरित करने की कोशिश करती हैं। उनके कृतित्त्व में इस विषय का प्रमुख स्थान है।

पैसे की सत्ता पर आधारित समाज में नारी मानवीय गरिमा का दावा करने के अधिकार तक से वंचित है, वह तानाशाह पति का खिलौना, उसके मन बहलाव का साधन बनकर रह गयी है। इसी विषय का विकास करने वाली अमृता प्रीतम की कविता-श्रृंखला 'अन्नदाता' कविता से शुरू होती है। स्वगत भाषण के रूप में लिखी गयी यह कविता अधिकारहीन, दु:खी और अपमानित नारी की आत्म-स्वीकृति है जिसकी प्यार के बिना, मां-बाप की इच्छा और परंपरागत रस्म-रिवाज के अनुसार शादी कर दी गयी है। 'इंतज़ार' कविता में कवयित्री ने शराबी और आवारा पति, किसी भी क्षण जन्म ले सकनेवाले अपने बच्चे के पिता की बड़ी नम्रता से प्रतीक्षा कर रही पत्नी के मन में आनेवाले दु:खद विचारों की अभिव्यक्ति की है।

वंश को आगे बढ़ाने, कठोर, बोझल श्रम करने और पुरुष की वासना की तुष्टि के लिए ही नारी की आवश्यकता है। 'गोशाला' कविता में कवयित्री ने नारी की स्थिति की तुलना किसान के घर में बंधी गाय से की है। उसके लिए विवाह का अर्थ है, उसकी बिक्री, सामाजिक नैतिकता द्वारा वेश्यावृत्ति को कानूनी रूप देना। यह भावना 'व्यापार' कविता में बड़े ज़ोर से उभरी है।

और कवयित्री इस ढोंगपूर्ण सामाजिक नैतिकता को चुनौती देती हैं। बहुत बर्दाश्त कर लिया नारी ने, बहुत दिनों तक वह इस झूठी आशा के सहारे जीती रही कि कोई उसकी मदद को आगे आएगा। उसे खुद ही, उन सभी साधनों का उपयोग करते हुए, जो उसे उपलब्ध हैं, अपने सुख-सौभाग्य के लिए संघर्ष करना होगा, साहस और दृढ़ता से अपने मानवीय अधिकारों की रक्षा करनी होगी। 'आज नहीं' कविता की भावुक और संवेदनशील नायिका 'गुस्से से बोखला उठती हैं', "भरपेट जीवन बिताने के सुख' से संतुष्ट नहीं होना चाहती, उसका 'खून खोलता है', वह जनमत और कठोर रीति-रिवाजों की नैतिकता को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है, 'मेघहीन नीरस घाटी' से निकलकर 'वास्तविक और हलचल भरे जीवन के आंधी-तूफ़ानों' की ओर बढ़ने की कोशिश करती है।

अमृता प्रीतम की कविताओं में प्यार एक बहुत गहन, शक्तिशाली और सब कुछ पर छा जाने वाली भावना के रूप में सामने आता है, वही जीवन का मुख्य सार है। प्यार से बढ़कर संसार में और अधिक सुंदर कुछ नहीं—यही कवयित्री के कृतित्व का आदर्श-वाक्य है। वह खुलकर कहती हैं—'प्यार से वंचित लोग तुच्छ कीड़ों-मकोड़ों के समान हो जाते हैं।' यदि अमृता प्रीतम के काव्य पर टैगोर के प्रभाव की चर्चा की जाए, जिसे कवयित्री ने स्वयं स्वीकार किया है, तो वह विशेषत: इसी रूप में प्रकट होता है कि महान् भारतीय कवि की भांति उन्होंने भी प्यार को, 'मानव को उपलब्ध इस परम सुख' को कितना अधिक महत्त्व दिया है।

प्रसिद्ध कविता-संग्रह 'संदेश' (1956) की एक कविता में अमृता प्रीतम ने अपने काव्य को एक अंतहीन लंबा पत्र बताया है; जो वह अपने प्रियतम को जीवन भर लिखती रहती हैं और जो कभी भी प्रियतम तक नहीं पहुंचेगा। इस काव्यमय पत्र में ऐसी नारी की, जो पूरी तरह अपने को, अपने प्रियतम को, समर्पित कर देती है और उसकी ओर से भी ऐसा ही चाहती है। ऐसे में जटिल मन:स्थिति के सभी उतार-चढ़ाव, भावनाएं और व्यथा-वेदनाएं हमारे सामने आ जाती हैं।

प्यार करनेवाली नारी को पुरुष क्रूर तानाशाह प्रतीत नहीं होता, जैसाकि पारंपरिक विवाह की बलि बननेवाली पत्नी अनुभव करती है, बल्कि देवता जैसा लगता है और वह हर घड़ी उसी के ख्यालों में डूबी रहती है—

'कोई अदृश्य चुंबक मुझे हमेशा
तुम्हारी ओर खींचता रहता है।'
('कस्तूरी' काव्य-संग्रह (1956) की 'देवता' कविता)।

अपने प्रियतम से मिलने के लिए कोई प्रेम-दीवानी तो दो प्रेमियों की आत्माओं को मिलनेवाले आकाश-पुल यानी इंद्रधनुष पर भी चलने को तैयार है ('मैं तुझे प्यार करती हूं')। संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो प्यार का नाश कर सके, इसके मधुर बंधनों को छिन्न-भिन्न कर सके ('स्नेह-सूत्र')।

अमृता प्रीतम के काव्य में प्यार पूरे वातावरण में व्याप्त हो जाता है, संपूर्ण ब्रह्मांड में छा जाता है। प्यार आकाश की ऊंचाइयों को छू लेता है और उसकी जड़ें धरती में बहुत गहरी उतर जाती हैं ('इश्क')।

मगर मुहब्बत तभी खुशी देती है जब उसमें किसी तरह की कोई कमी न हो, कोई समझौता न हो। अमृता प्रीतम केवल इसी तरह के प्यार को स्वीकार करती हैं। 'टोस्ट' कविता में कवयित्री कहती हैं कि—

'छल-कपट के जीवन रूपी जंगल में,
जो झाड़-झंखाड़ से भरा हुआ है'

सच्ची भावना को जानने-पहचानने 'चापलूसी भरे शिष्ट शब्दों में' सच्चे प्यार के शब्दों को ग्रहण करने और 'वनावट की प्रदर्शनी में झूठी-मधुर मुस्कानों के बीच' प्यार का सच्चा रूप देख पाने की क्षमता होनी चाहिए।

किंतु प्यार का सुख अपने आप नहीं मिल जाता, उसके लिए वहुत दुःख-दर्द सहना पड़ता है, संघर्ष करना पड़ता है, उसकी रक्षा करनी पड़ती है—उन सभी से उसे बचाना होता है जो प्यार को किसी कारण लज्जाजनक बुरा और पापभरा मानते हैं।

कवयित्री स्वयं तो अपने को हर्ष-उल्लास के वजाय व्यथा-पीड़ा की नायिका मानती हैं। प्रेत-पीड़ा, विरह-वेदना, जलन-ईर्ष्या, एकपक्षी प्यार के वर्णन में उन्होंने उच्च कला-पारंगतता तथा अभिव्यंजकता का परिचय दिया है, प्यार में सुखी नारी की ही नहीं, वल्कि दुःखी और यातना सहनेवाली नारी की भी सच्ची और सही भावनाएं व्यक्त की हैं। प्यार में निराश और उपेक्षित नारी कभी तो अपने प्रियतम से रुकने, उसे छोड़कर न जाने की प्रार्थना करती है ('आखिरी मुहब्बत') तो कभी वह अपने मन को लगी ठेस के लिए उसे क्षमा नहीं कर पाती, तिरस्कृत नारी का आत्म-सम्मान बोल उठता है और वह प्रायश्चित्त के लिए आनेवाले, और अभी तक मन में बसे प्रिय व्यक्ति को यह कहने के लिए अपने भीतर शक्ति बटोर पाती है –'मैंने तुम्हें सदा के लिए दिल से निकाल दिया है।' ('एकवार')

अमृता प्रीतम का प्रेम गीति-काव्य बहुत ही स्वाभाविक ढंग से उनके प्रकृति गीति-काव्य से घुल-मिल जाता है। खुशी से उमगती वसंतकालीन प्रकृति के विंव उनकी उस नायिका की मनःस्थिति को व्यक्त करते हैं, जो बड़े साहस से अतीत को चुनौती देती है और सुख-सौभाग्य तथा नवजीवन की ओर वढ़ती है, जबकि मुरझायी हुई प्रकृति के चित्र दुःख और उदासी के मूड को उभारते हैं।

उच्च नागरिक-चेतना अमृता प्रीतम के गीति-काव्य का एक विशेष लक्षण है। भारतीय नारी के लाक्षणिक, विशिष्ट सामाजिक सीमाओं के घेरे में वंद उसके जीवन, उसकी गतिविधियों और भावनाओं के भावात्मक चित्रण की बदौलत उसमें सच्चा लोक-रंग आ जाता है। उनके काव्य में स्वयं कवयित्री का मनमोहक विंव, उनका समृद्ध आंतरिक जगत् ही हमारे सामने नहीं आता। अपनी चर्चा करते हुए वह साथ ही अत्यधिक प्रेमनिष्ठ, निश्छल और अपनी भावनाओं के प्रति ईमानदार, गर्वीली, अपनी टेक रखनेवाली, प्यार और सुख के अधिकार की रक्षा के लिए जूझने वाली संवेदनशील नायिका का सामान्य विंव भी प्रस्तुत करती हैं। सामाजिक असंगतियों की पूरी उग्रता को साहस और दृढ़ता से वेपर्दा करते

हुए, भारतीय समाज में नवीन नैतिक मानकों की पुष्टि करते हुए, कूप-मंडूकी जीवन ढर्रे और अतीत के अवांछित अवशेषों से टक्कर लेते हुए उनका काव्य-साहित्य और जीवन के अग्रणी वैचारिक-सौंदर्यपरक आदर्शों का पक्ष-पोषण करता है।

अपने गीतिमय-काव्य में मानव के जटिल और बहुरूपी आंतरिक जगत् की अत्यधिक गहराई में उतरने के साथ-साथ अमृता प्रीतम राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के कई पक्षों को भी छूती हैं और किसी तरह की लाग-लपेट के बिना उनके प्रति अपना सही रुख भी व्यक्त करती हैं। किंतु अनेक प्रगतिशील कवियों से भिन्न, जिनके कृतित्व में सामाजिक विषयों के दबाव के कारण प्रेम पीछे हट जाता है (जिसके लिए अक्सर उनकी आलोचना की जाती है) अमृता जी संसार को बदलने का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं प्रस्तुत करती हैं। उनका विद्रोह प्रणय-भावनाओं के विस्फोट के साथ आरंभ होता है। नए जीवन की खोजें सच्चे प्रेम की प्राप्ति के प्रयासों के साथ जुड़ जाती हैं, प्रेम-गीति के सामाजिक काव्य के साथ सामंजस्य-पूर्वक घुल-मिल जाती हैं, इर्द-गिर्द के वातावरण के प्रति गहरे असंतोष की भावना पैदा करते हुए मानव और उस संसार को बदलने के लिए प्रेरित करती हैं जिसमें वह सांस ले रहा है।

प्रारंभिक कविताओं में ही अमृता जी ने अपनी जनता के जीवन की अधिकतम महत्त्वपूर्ण समस्याओं के प्रति अपना रवैया स्पष्ट कर दिया है। उनकी गीतिमय व्यथा-वेदनाओं के संसार में बरबस युग-वाणी गूंज उठती है, उपनिवेश-वाद और फ़ासिस्टवाद-विरोधी स्वर मुखर हो उठता है जिसे हम 'धरती के बालक', 'भारत छोड़ो।' बंगाल के अकाल से संबंधित तथा कई अन्य कविताओं में विशेषतः स्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं।

'वारिस शाह को' कविता से अमृता प्रीतम की सामाजिक गीतिमाला का का आरंभ होता है। ये कविताएं मातृभूमि के दुःखद भाग्य की पीड़ा से परिपूर्ण हैं। 'गेहूं का गीत' यह शोक-गीत पंजाब में काफ़ी विख्यात है। यह जन-शोक, अधूरी आशाओं और अधूरे सपनों का रुदन है। कितनी उम्मीदें लगायी थीं भारतीयों ने मातृभूमि के औपनिवेशिक जुए से मुक्ति पाने के साथ ! उतनी ही, जितनी नयी फ़सल के साथ किसान की आशाएं जुड़ी होती हैं। इस चीज़ के लिए कितने बलिदान किए गए, कितना पसीना बहाया गया कि नए जीवन के अंकुर फूटें कि खेतों में गेहूं की फसलें लहलहा उठें। किंतु खेतों को बारिश से नहीं, खून से सींचना पड़ा···

बहुत हद तक आत्मकथात्मक कविता 'रतजगा' में कवयित्री 'बड़ी पीड़ा अनुभव करते हुए' 'आशाओं की पुस्तक' से 'प्रतीक्षा का वांछित पृष्ठ' फाड़ डालती हैं। उनकी मातृभूमि के घाव उनके प्रेम-घावों की तुलना में कहीं अधिक

ज़ोर से टीसते हैं, संसार में करोड़ों अभागे सहायता और सहानुभूति की प्रतीक्षा कर रहे हैं, किंतु वे इंतजार ही करते जा रहे हैं।

'संदेश' संकलन की कविताओं में सामाजिक अन्याय के विरुद्ध विशेषतः बहुत जोर की गूंज सुनायी देती है। सुख और दुःख की 'दो धुरियों का पारस्परिक प्रभाव'—यही जीवन का शाश्वत नियम नहीं है, जैसाकि भारतीय कवियों ने सुदूर अतीत में लिखा था। अमृता प्रीतम इस विचार की पुष्टि करती हैं कि बुराई शोषण पर आधारित समाज का नियम है। कवयित्री अपने इर्द-गिर्द नज़र दौड़ाती हैं और प्रकृति के साथ मानव का सामंजस्य नहीं देखतीं, जिसका आभास पाने के लिए स्वच्छंदतावादी कवि लालायित रहे थे, उन्हें फलता-फूलता चमन भी नज़र नहीं आता, बल्कि 'आंधी द्वारा पेड़ से तोड़े गए पत्ते' ही दिखाई देते हैं, धर्मांधता तथा सामाजिक असमानता के शिकार होने वाले करोड़ों लोगों की आहें-कराहें ही सुनायी देती हैं।

किंतु वास्तविकता से निराशा, इर्द-गिर्द के जीवन से असंतोष के बावजूद अमृता प्रीतम न तो घोर निराशावादी बन जाती हैं और न ही मानवद्वेषी। मानव में उसका विश्वास उन्हें उनका उत्साह बनाए रखने में सहायक होता है, दुःख-दर्दों को हिम्मत से बर्दाश्त करने में मदद देता है। अमृता जी के गीति-काव्य में निराशा के साथ-साथ आशा का स्वर गूंजता है। अधीनों-आज्ञाकारियों, चुपचाप सब कुछ सहने वालों को कोसते हुए ('जी हुजूर' कविता) कवयित्री यह कहना भी नहीं भूलतीं कि किस्मत के मारे लोगों के दिलों में, जो सम्पत्ति-शालियों के आदेश की चुपचाप प्रतीक्षा करने को विवश हैं, अपार शक्ति निहित है और जो किसी भी समय फूटकर बाहर आ सकती है। 'प्रकाश के छींटे' कविता में ('कस्तूरी' कविता-संग्रह) कवयित्री कहती हैं कि जीवन में अनेक अछूती राहें हैं जिनपर साहस से कदम बढ़ाने चाहिए। ज़िन्दगी इंसान को एक शानदार दावत के लिए निमंत्रित करती है, किंतु इस दावत का मज़ा सिर्फ वही ले सकता है जिसमें संकल्प है, जो सभी मुश्किलों की कलाई मरोड़ सकता है, अपने मनचाहे लक्ष्य के मार्ग में आनेवाली सभी बाधाओं को झटककर एक तरफ हटा सकता है।

अमृता प्रीतम के जीवन-दृष्टिकोण उनके वैचारिक और नैतिक रुख को समझने के लिए अपने बारे में उनका अपना मूल्यांकन, कवि के रूप में अपने प्रति उनका रवैया, अपने द्वारा अपने कृतित्व के कार्यभारों का निर्धारण बहुत महत्त्व रखता है। इस मामले में भी हम कवयित्री को अत्यधिक निश्छल पाते हैं, यद्यपि अपने बारे में वह शब्दों की कंजूसी करती हैं। अपने प्रारंभिक काव्य में ही उन्होंने यह घोषणा की थी कि उनकी आवाज़ 'हमारे युग की आवाज़' बन गयी है। बाद में, 'मेरी आशाओं से भरी रात' कविता में उन्होंने इस बात की पुष्टि की—
'मैं—आवाज़ हूं अपनी धरती की। मेरा गीत है—उसकी आत्म-स्वीकृति।'

इस बात का उल्लेख किए नहीं बिना रहा जा सकता कि साठ के दशक के मध्य और सत्तर के दशक के आरंभ में प्रकाशित कविता-संग्रहों 'काला फूल' (1967), 'अस्तित्व' (1968) और इसी प्रकार 'जागमणि' पत्रिका में छपी कविताओं में अमृता प्रीतम ने व्यक्ति के समाज से परायेपन की प्रवृत्तियों की ओर ध्यान दिया है; जिनका सारे विदेशी साहित्य में एक हद तक प्रचार हुआ है। किंतु उन लेखकों से भिन्न, जो इस परायेपन या अजनबीपन को जन्म देने वाले पूंजीवादी समाज के पतन के सामाजिक-राजनीतिक कारणों की अवहेलना करते हुए औद्योगिक प्रगति को इसके लिए दोषी ठहराने का यत्न करते हैं और इसीलिए आधुनिक सभ्यता तथा संस्थाओं पर ही अपनी तीखी चोट करते हैं, कवयित्री इस स्थिति के वास्तविक कारण ढूंढने का प्रयास करती हैं। उनके काव्य में आत्मिक असंतोष और हताशा-विवशता के विषय सामाजिक विरोध, असमानता पर आधारित समाज प्रति घृणा और समनुरूपनवाद (कानफोरमिज़म) के विरुद्ध विद्रोह के विषयों से घुल-मिल जाते हैं। यहां तक कि प्यार भी, जो कभी ठण्डक में गर्मी देता था, वरखा-बूंदी और बुरे मौसम के असर से बचाता था, वह भी न तो सुख और न खुशी प्रदान करता है, बल्कि निराशा और दुःख को ही छिपाए रहता है। सत्तर के दशक के आरंभ की 'प्यार' की कविता छली गयी, तिरस्कृत और उपेक्षित नारी की फटकार बनकर ही सामने आती है।

'मेरा शहर' इर्द-गिर्द के वातावरण से गहरा असंतोष व्यक्त करती है। लोगों के प्रति शत्रुतापूर्ण, उनकी आवश्यकताओं, दुःख-मुसीबतों तथा चिंताओं के प्रति उदासीन, अजनबी और अनबूझ नगर के साथ-साथ कवयित्री पूंजीवादी संबंधों की दुनिया को भी, जिससे वह घृणा करती हैं, अस्वीकार कर देती हैं। कवयित्री पूंजीवादी नगर को भी उसी प्रकार स्वीकार नहीं करती हैं जैसे पूंजीवादी समाज के जीवन को, जो उनमें उग्र विरोध की भावना पैदा करता है और पूंजीवादी नगर उन्हें जिसकी छाया प्रतीत होता है।

'चुप की साज़िश' कविता में व्यक्ति पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती के ख़िलाफ़ सामाजिक विरोध की आवाज़ बहुत तीव्र रूप में उभरती है। रात के अंधेरे में कोई सो रहे लोगों को लूटता है। वह उनकी सबसे प्यारी दौलत—उनके सपने, उनकी कल्पनाएं और आशाएं-अभिलाषाएं लूट लेता है। उनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं और लोग चुपचाप इस शत्रुतापूर्ण शक्ति के सामने घुटने टेक देते हैं।

यद्यपि भारतीय साहित्य-समीक्षक अमृता प्रीतम के काव्य का उनके गद्य की तुलना में अधिक ऊंचा मूल्यांकन करते हैं, तथापि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उनके द्वारा लिखी गई कई सौ कहानियां और लगभग तीन उपन्यास आधुनिक पंजाबी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उनका गद्य सर्वथा विशिष्ट है। वह कक्षीय यानी एक सीमा में बंधा हुआ है। अमृता जी की

सखी-सहेली, पंजाबी बुलबुल
कविता सुन हो जिसकी, दिल में उथल-पुथल,
नहीं क्षीण स्वर उसका, बेशक है कोमल
मां की ताक़त उसमें, संघर्षों का बल।

अमृता प्रीतम से मेरी पहली मुलाकात तीस साल पहले हुई थी। सन् 1955 की बात है, जब दिल्ली में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में तनाव-शैथिल्य लाने के लिए एशियाई देशों का सम्मेलन हुआ था। तब से मैं अनेक बार उनसे भारत और सोवियत संघ में मिल चुका हूं और हर बार ही उनकी आत्मिक समृद्धि, असाधारण निश्छलता और उदात्तता से अभिभूत तथा आश्चर्यचकित हुआ हूं।

□□□